ॐ

तैत्तिरीय उपनिषद्

पं० राजाराम प्रोफ़ैसर डी. ए. वी.
कालेज, लाहौर प्रणीत-

सरल हिन्दी भाष्य समेत

सं० १९८० वि० सन् १९२३

बाम्बे मैशीन प्रेस लाहौर।

तीसरी वार १०००]

[मूल्य ॥)

भूमिका ।

तैत्तिरीय-उपनिषद्, तैत्तिरीय आरण्यक का एक भाग है, जो आरण्यक कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीयशाखा का है। इस आरण्यक के दस प्रपाठकों में से पहले छः कर्मकाण्ड के विषय में हैं, सातवां आठवां और नवां प्रपाठक तैत्तिरीय वा तैत्तिरीयक उपनिषद् है। दसवां प्रपाठक याज्ञिकी वा महानारायण उपनिषद् है, जो खिल कहलाता है। अर्थात् यह आरण्यक में एक परिशिष्ट के तौर पर है।

इस उपनिषद् के तीन अध्याय हैं। पहला अध्याय शिक्षावल्ली दूसरा ब्रह्मवल्ली वा ब्रह्मानन्दवल्ली और तीसरा भृगुवल्ली कहलाता है। इन को शिक्षा ऽध्याय, ब्रह्मवल्ल्यध्याय और भृगुवल्ल्यध्याय भी कहते हैं।

उपनिषद् के जिज्ञासु के लिए जो २ शिक्षाएं ब्रह्मविद्या से पहले आवश्यक हैं, उन का वर्णन पहले अध्याय में है। इसी लिए इस को शिक्षावल्ली और शिक्षाऽध्याय कहते हैं।

दूसरे अनुवाक के अन्त में जो कहा है 'इत्युक्तः शीक्षाध्यायः' इससे यह अभिप्राय नहीं लेना चाहिये, शिक्षाध्याय इसी अनुवाक का नाम समुचित है, किन्तु इस अनुवाक में जो शिक्षा है, वह वर्णों के उच्चारण की शिक्षा है। और वर्णों के उच्चारण की शिक्षा का नाम शिक्षा प्रसिद्ध है और था। इसलिए इस अनुवाक के अन्त में कहा है, 'इत्युक्तः शीक्षाऽध्यायः'। पर सातवें सारे प्रपाठक (१२ अनुवाकों) का नाम जो शिक्षा-

वल्ली वा शिक्षाऽध्याय है, वह उन सब प्रकार की शिक्षाओं के अभिप्राय से है, जो इस प्रपाठक में हैं।

शिक्षावल्ली जो आरण्यक में सातवां प्रपाठक है, और यहां उपनिषद् में पहला अध्याय है, उस में १२ अनुवाक हैं। इस अध्याय में हरएक अनुवाक के समाप्त होने पर कुछ प्रतीकें दी गई हैं, और फिर अध्याय के समाप्त होने पर एक दूसरे ही प्रकार की प्रतीकें दी गई हैं, उन के समझने में लोगों को प्रायः भ्रान्ति हुई है। हम उनका आशय साथ२ खोलते जाएंगे। ब्रह्मानन्दवल्ली, जो आरण्यक में आठवां प्रपाठक और उपनिषद् का दूसरा अध्याय है, उस में ६ अनुवाक हैं। भृगुवल्ली जो आरण्यक में नवां प्रपाठक और उपनिषद् का तीसरा अध्याय है, उस में १२ अनुवाक हैं। इन दोनों अध्यायों में एक २ अनुवाक की समाप्ति में तो कोई प्रतीक नहीं दी गई, जैसे कि पहले अध्याय में थीं, किन्तु केवल अध्याय की समाप्ति में प्रतीकें हैं, और वे एक नए ढंग पर हैं।

मानुष जीवन का परम लक्ष्य अभय पद में स्थिति है, जो ब्रह्मज्ञान से प्राप्त होती है, और ब्रह्मज्ञान उन शिक्षाओं पर चलने से मिलता है, जो शिक्षावल्ली में कही हैं। विशेषतः ४,६ और १० वें अनुवाक की शिक्षाएं लोक परलोक दोनों के सुधारने वाली हैं॥

पहला अनुवाक ॥१॥

ओम् शन्नो मित्रः शं वरुणः। शं नो भवत्वर्यमा। शं न इन्द्रो बृहस्पतिः। शं नो विष्णुरु-

रुक्म: । नमो ब्रह्मणे । नमस्ते वायो । त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि । त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि । ऋतं वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु । तद्वक्तारमवतु । अवतु माम् । अवतु वक्तारम् । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥१॥

सत्यं वदिष्यामि पञ्च च ॥ अनु० १ ॥ *

अर्थ—मित्र हमारे लिये सुखस्वरूप हो और वरुण सुख रूप हो, अर्यमा हमारे लिये सुखरूप हो, इन्द्र और बृहस्पति

---

* 'सत्यं वदिष्यामि, पञ्च च' ये वाक्यों की प्रतीकें दी हैं। इस का अर्थ यह है। सत्यं वदिष्यामि और पांच अर्थात् 'सत्यं वदिष्यामि' तक दस वाक्य हैं और उसके पीछे पांच वाक्य और हैं। सारे पन्द्रह वाक्य इस अनुवाक में हैं। इसी तरह आगे भी हर एक अनुवाक के पीछे गिनती दी गई है। गिनती के लिए जहां दस वाक्य समाप्त होते हैं, वहां की प्रतीक दी जाती है, जैसे यहां 'सत्यं वदिष्यामि'। इस के आगे यदि और भी दस वाक्य होते, तो अगले दहाके की इस के आगे प्रतीक देते, जैसे तीसरे अनुवाक में चार प्रतीकें दी हैं। अनुवाकों के मध्य में जो इस तरह कोष्ठ (१) के अन्दर १, २, इत्यादि अंक दिये हैं, वह दहाकों की गिनती है। अन्तिम दहाके में वे वाक्य मिला लिये जाते हैं, जो दस से अधिक हों, जैसे यहां १ का अंक १५ वें वाक्य के पीछे है। अर्थात् इस अनुवाक

हमारे लिये सुखरूप हों, उरुक्रम (बड़ी पहुंच वाला) विष्णु हमारे लिये सुखरूप हो ॥ नमस्कार है ब्रह्म को, नमस्कार है तुझे हे वायो ! तू ही प्रत्यक्ष ब्रह्म है । मैं तुझे ही प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूंगा। ऋत कहूंगा। सत्य कहूंगा । वह (सत्य) मेरी रक्षा करे। वह वक्ता (आचार्य) की रक्षा करे । रक्षा करे मेरी, और रक्षा करे वक्ता की। ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः† ॥१॥

भाष्य–जिस तरह जीते जागते शरीर से जो कुछ प्रकाश पाता है, वह सब आत्मा के आश्रय है, आंख देखती है, कान सुनते हैं, वाणी बोलती है और मन सोचता है । यह सब जीवित पुरुष के धर्म आत्मा के प्रकाश से प्रकाशित हो रहे हैं। और आत्मा इन २ धर्मों के सहारे अलग २ नाम धारण करता है। आंख के धर्म को लेकर वह द्रष्टा है और श्रोत्र के धर्म को लेकर श्रोता है । यद्यपि ये सारे नाम एक ही आत्मा के हैं, तथापि उन का सम्बन्ध अलग २ इन्द्रिय से है, जिस के द्वारा

में वाक्यों का दुहाका एक ही है । इसी तरह सब जगह गिन लेना चाहिये ॥

† यह शान्ति पाठ है, जो इस उपनिषद् के आरम्भ में पढ़ा जाता है । इसका पढ़ने वाला शिष्य है, इसी लिये वह अपने लिये और आचार्य के लिये इन भिन्न वाक्यों से प्रार्थना करता है, 'वह मेरी रक्षा करे, वह वक्ता की रक्षा करे' ॥ यहां मित्र, वरुण आदि शब्द व्यष्टि रूप में अपर (शबल) ब्रह्म के बोधक हैं । शबल ब्रह्म से यह अभिप्राय है, कि इस जगत् में सर्वत्र परमात्मा का प्रकाश है, जो अलग २ शक्तियों द्वारा अलग २ महिमा से प्रकाशित हो रहा है ।

आत्मा की वह शक्ति प्रकाशित होती है। आंख का अधिष्ठाता हो कर ही आत्मा द्रष्टा है, श्रोत्र का अधिष्ठाता हो कर वह द्रष्टा नहीं कहलाता। इसी प्रकार इस जीते जागते विश्व से जो कुछ प्रकाश पा रहा है,वह सब उस परम आत्मा के आश्रय है। "तस्य भासा सर्वमिदं विभाति"=उस के प्रकाश से यह सब प्रकाशित होता है। जिस के आश्रित आग जलती है, उसी के आश्रित सूर्य तपता है, और बिजली चमकती है। यह इस जीवन्त विश्व के धर्म उस परम आत्मा के प्रकाश से प्रकाशित हो रहे हैं। और परमात्मा इन धर्मों के सहारे अलग२ नाम धारण करता है। सूर्य के धर्म को लेकर वह सूर्य है और बिजली के धर्म को लेकर वह इन्द्र है। यद्यपि ये सारे नाम एक ही परम आत्मा के हैं, तथापि उनका सम्बन्ध इस विश्व की एक अलग २ दिव्य शक्ति से है, जिस के द्वारा परमात्मा की वह शक्ति प्रकाशित होती है। सूर्य का अधिष्ठाता हो कर वह सूर्य ही कहलाता है, बिजली का अधिष्ठाता हो कर वह सूर्य नहीं कहलाता। इसी प्रकार बिजली का अधिष्ठाता हो कर वह इन्द्र कहलाता है। यही शबल ब्रह्म है, यही अपर ब्रह्म है, यही इन्द्र आदि देवता हैं। वह एक ही परम देवता है, जो अधिष्ठान भेद से भिन्न २ नामों से पुकारा जाता है, 'यो देवानां नामधा एक एव" (ऋग् १०।८२।३)=जो एक ही सारे देवताओं के नाम धारने वाला है।

स वरुणः सायमग्निर्भवति स मित्रो भवति प्रातरुद्यन्। स सविता भूत्वाऽन्तरिक्षेण याति स इन्द्रो भूत्वा तपति

में दोनों जगह काम करते हैं, इनके अनुकूल आचरण हा सचाई है, धर्म है, सच्चा रास्ता है। जिज्ञासु को चाहिये, कि वह सदा ऋत और सत्य ही बोले और ऐसा जाने कि यही मेरे और मेरे आचार्य के रक्षक हैं॥ " ये ऋत और सत्य सूत्रात्मा के अधीन हैं, इनका अधिष्ठाता सूत्रात्मा है, इस लिये सूत्रात्मा की महिमा में ये वचन कहे हैं, मैं (तुझ ही को) ऋत कहूंगा, तुझ ही को सत्य कहूंगा। वन्दना और स्तुति के पीछे वह ब्रह्मविद्या का अर्थी यह दो वर मांगता है, कि वह ब्रह्म (सूत्रात्मा) मुझे विद्या के ग्रहण की शक्ति और आचार्य को उसके कहने की शक्ति देने से हमारी रक्षा करे। (शंकराचार्य)॥ गुरु की और अपनी रक्षा में आदर जितलाने के लिये दुबारा उन्हीं वाक्यों को कहते हुए 'तत्'=वह, शब्द को छोड़ दिया है और 'अवतु'=रक्षा करे, शब्द को पहले कर दिया है॥

" शान्तिः शान्तिः शान्तिः " तीन बार कहने से यह अभिप्राय है, कि सब कुछ हमारे लिये शान्तिमय हो। हमारी विद्याप्राप्ति में न आध्यात्मिक, न आधिभौतिक और न कोई आधिदैविक विघ्न प्राप्त हो।

दूसरा अनुवाक॥ २॥

ओं शीक्षां व्याख्यास्यामः। वर्णः स्वरः। मात्रा बलम्। साम सन्तानः। इत्युक्तः शीक्षाध्यायः।

शीक्षां पञ्च* ॥२॥

हम शिक्षा (उच्चारण के नियमों) की व्याख्या करेंगे। वर्ण, स्वर, मात्रा, प्रयत्न, साम और सन्धि । यह शिक्षाध्याय कहा गया है † ॥ २ ॥

---

* इस अनुवाक में ' शीक्षां ' से लेकर पांच वाक्य हैं । जहां दस वाक्य समाप्त होते हैं, वहां दसवां वाक्य पूरा वा अधूरा लिख कर उसके पीछे जितने वाक्य हों, उनकी गिनती दे दी है । जैसे पहले अनुवाक में ' सत्यं वदिष्यामि' दसवां वाक्य है, और उसके पीछे पांच वाक्य और आए हैं, इस लिये वहां ' सत्यं वदिष्यामि पञ्च च ' ऐसा लिखा है । और यहां सारे ही पांच वाक्य हैं, इस लिये आरम्भ का एक ही (शीक्षां) पद (न कि सारा वाक्य) लिख कर उसके पीछे ' पञ्च ' दिया है ॥

† शान्ति पाठ के पीछे अब सबसे पहले पाठ पढ़ने की शिक्षा देते हैं अर्थात् पाठ पढ़ने में किन बातों का ध्यान रखना चाहिये । यह कि (१) वर्ण (अ, आ, आदि अक्षर) ठीक २ उच्चारण हों । स वा श की जगह ष, अथवा श, ष, की जगह ष, अथवा श, ष, की जगह स न उच्चारण किया जाय इत्यादि । (२) स्वर=उदात्त आदि अर्थात् उच्चारण करने में किस अक्षर पर बल देना चाहिये इत्यादि नियम । ऐसा न हो, कि जिस अक्षर पर बल डालना है, उस पर बल न डाला जाए वा किसी दूसरे पर बल डाला जाए। (३) मात्रा=ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत। इन मात्राओं को साफ २ प्रकट करो। दीर्घ और प्लुत

तीसरा अनुवाक ॥ ३ ॥

सह नौ यशः । सह नौ ब्रह्मवर्चसम् ।

यश हम दोनों (आचार्य और शिष्य) का साथ हो ब्रह्मवर्चस हम दोनों का साथ हो* ॥

अथातः सꣳहिताया उपनिषदं व्याख्यास्यामः । पञ्चस्वधिकरणेषु । अधिलोकमधिज्यौतिषमधिविद्यमधिप्रजमध्यात्मम् । ता महासꣳहिता इत्याचक्षते । अथाधिलोकम् । पृ-

---

को ह्रस्व, और ह्रस्व को दीर्घ वा व्यञ्जन न बना डालो। (४)प्रयत्न, वर्णों की बनावट में बाह्य और आभ्यन्तर जैसा प्रयत्न चाहिये, वैसा करो।(५) साम=स्वर से पढ़ना। मधुर स्वर से पढ़ो। तुम्हारा कण्ठ रूखा फीका न हो। (६) सन्धि, पदों को मिला कर पढ़ना। पद २ को काट २ कर न पढ़ो ॥

* वेद के पढ़ने और धर्म के पालने से जो यश है, यहां उस यश से अभिप्राय है। और ब्रह्मवर्चस वह तेज है, जो वेद के पढ़ने और उसके अनुकूल आचरण से चेहरे पर चमकता है। इन दोनों फलों के लिये यह प्रार्थना भी शिष्य की ही है। 'शंनोमित्रः' इत्यादि से यह प्रार्थना इस लिये अलग पढ़ी गई है, कि यह केवल इस संहितोपनिषद् के साथ सम्बन्ध रखती है। और उस पहली प्रार्थना का सम्बन्ध सारी शिक्षावल्ली से है।

थिवी पूर्वरूपम् । द्यौरुत्तररूपम् । आकाशः सन्धिः (१) वायुः सन्धानम् । इत्यधिलोकम् । अथाधि ज्यौतिषम् । अग्निः पूर्वरूपम् । आदित्य उत्तररूपम् । आपः सन्धिः । वैद्युतः सन्धानम् । इत्याधिज्यौतिषम् । अथाधिविद्यम् । आचार्य्यः पूर्वरूपम् । (२) अन्तेवास्युतररूपम् । विद्या सन्धिः । प्रवचनँ सन्धानम् । इत्यधिविद्यम् । अथाधिप्रजम् ॥ माता पूर्वरूपम् । पितोत्तररूपम् । प्रजा सन्धिः । प्रजननँ सन्धानम् । इत्याधिप्रजम् (३) अथाध्यात्मम् । अधरा हनुः पूर्वरूपम् । उत्तरा हनुरुत्तररूपम् । वाक् सन्धिः । जिह्वा सन्धानम् । इत्यध्यात्मम् । इतीमा महासँहिताः । य एवमेता महासँहिता व्याख्याता वेद । सन्धीयते प्रजयापशुभिः ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन सुवर्ग्येण लोकेन (४)

सन्धिः, आचार्यः पूर्वरूपम्, इत्यधिप्रजं, लोकेन ॥ ३ ॥

अब संहिता की उपनिषद् पांच अधिकरणों (मद्दों) में

बतलाएंगे। लोकों के सम्बन्ध में, दिव्य ज्योतियों के सम्बन्ध में, विद्या के सम्बन्ध में, सन्तान के सम्बन्ध में और शरीर के सम्बन्ध में। इन (पांचों) को महासंहिता कहते हैं।

पहिली लोकों के सम्बन्ध में है। पृथिवी पूर्व रूप है, द्यौ उत्तर रूप है, आकाश मिलाप (सन्धि) है, वायु मिलाने वाला (सन्धान) है। यह लोकों के सम्बन्ध में है।

अब ज्योतियों के सम्बन्ध में कहते हैं। अग्नि पूर्वरूप है, सूर्य उत्तररूप है, पानी संधि है, और बिजली मिलाने वाली है। यह ज्योतियों के सम्बन्ध में है।

अब विद्या के सम्बन्ध में कहते हैं। आचार्य पूर्वरूप है। शिष्य उत्तररूप है, विद्या सन्धि है, पढ़ाना (प्रवचन) मिलाने वाला है। यह विद्या के सम्बन्ध में है।

अब सन्तान के सम्बन्ध में कहते हैं। माता पूर्वरूप है, पिता उत्तर रूप है, प्रजा उनकी सन्धि है, और उत्पादन का कर्म मिलाने वाला है। यह सन्तान के सम्बन्ध में है।

अब शरीर के सम्बन्ध में कहते हैं। निचला जबड़ा पूर्वरूप है, ऊपर का जबड़ा उत्तररूप है, वाणी सन्धि है, और जिह्वा मिलाने वाली है। यह शरीर के सम्बन्ध में है। सो ये महासंहिता हैं।

जो इस प्रकार इन महासंहिताओं को जानता है, जैसा कि यहां व्याख्या की गई है, वह सन्तान से, पशुओं से, ब्रह्मवर्चस से, खुराक से, और स्वर्गलोक से मिलता है (अर्थात् इन को प्राप्त होता है)। ३।

व्याख्या—यह संहिता का ज्ञान जो पांच मन्त्रों में बतलाया है, इसको बहुत सोचा विचारा, पर फिर भी इसका असली रहस्य समझ में नहीं आया । उपनिषदों के मर्मज्ञ विद्वान संन्यासियों से पूछने पर इसका इतना ही प्रयोजन ज्ञात हुआ है, कि यह विशेष उपासना हैं, जो परम्परागत (सीना बसीना चली आती) हैं । पर अब इन का जानने वाला शायद ही कहीं कोई हो । संस्कृत भाष्यकारों ने केवल इतना ही लिखा है, कि जहां वेद में सन्धि होती है, वहां इन का ध्यान करना चाहिये । जैसे जहां अ और उ मिल कर ओ हुआ है, वहां अ को पृथिवीलोक, उ को द्यौलोक, और इन दोनों के अन्तराल (मध्य देश) को आकाश, और इन के मिलाने से जो ओ हुआ है, उसको वायु ध्यान करना चाहिये, बस इसी तरह दूसरी उपासनाओं को भी ख्याल करें ।

चौथा अनुवाक ॥ ४ ॥

यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः । छन्दोभ्योऽध्यमृतात संबभूव । स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु । अमृतस्य देव धारणो भूयासम् । शरीरं मे विचक्षणं, जिह्वा मे मधुमत्तमा । कर्णाभ्यां भूरि विश्रुवम् । ब्रह्मणः कोशोऽसि मेधया पिहितः । श्रुतं मे गोपाय । आवहन्ती वितन्वाना (१) कुर्वाणा ऽचीर-

मात्मनः । वासाꣳसि मम गावश्च । अन्नपाने च सर्वदा । ततो मे श्रियमावह । लोमशां पशुभिः सह स्वाहा । आमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा । विमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा । प्रमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा । दमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा । शमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा । (२) यशो जनेऽसानि स्वाहा । श्रेयान् वस्यसोऽसानि स्वाहा । तं त्वा भग प्रविशानि स्वाहा । स मा भग प्रविश स्वाहा तस्मिन्त्सहस्रशाखे । निभगाऽहं त्वयि मृजे स्वाहा । यथाऽऽपः प्रवता यन्ति । यथा मासा अहर्जरम् । एवं मां ब्रह्मचारिणः । धातरायन्तु सर्वतः स्वाहा । प्रतिवेशोऽसि प्र मा भाहि प्र मा पद्यस्व (३)

चितन्वाना, शमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा, धातुरायन्तु सर्वतः स्वाहा एकं च ॥ ४ ॥

जो इन्द्र वेदों में श्रेष्ठ है सारे रूपों वाला है वह वेदों से अमृत से प्रकट हुआ है। वह इन्द्र मुझे मेधा से बलवान् बनाए। हे देव ! मैं अमृत (=वेदार्थज्ञान) का धारने वाला होऊं॥

मेरा शरीर योग्य हो। मेरी वाणी बड़ी मीठी हो। मैं कानों से बहुत सुनूं (मुझे आचार्यों से बहुत कुछ उपदेश मिले)। तू मेधा से ढपा हुआ, ब्रह्म का कोश (मियान) है, मेरे श्रुत (आचार्यों से सुने हुए) की रक्षा कर।

तब मुझे वह श्री (खुशी) ला दे, जो पशुओं से रोमों वाली हो, (रोमों वाले पशु मेरे पास हों) और जो हर एक समय मेरे लिए वस्त्र और गौओं को, अन्न और पान को लाने वाली फैलाने वाली और विना देर के अपना बनाने वाली (खुशी के रुप में बदलने वाली) हो, स्वाहा ! ब्रह्मचारी (वेद के विद्यार्थी) मेरे पास आएं, स्वाहा ! ब्रह्मचारी सब तर्फ से मेरे पास आएं, स्वाहा ! ब्रह्मचारी प्रयत्न से मेरे पास आएं, स्वाहा ! सिधे हुए (अपने आप को वश में रखने वाले) ब्रह्मचारी मेरे पास आएं, स्वाहा ! शान्त ब्रह्मचारी मेरे पास आएं, स्वाहा !

मनुष्यों में मैं यशरूप हो जाऊं, स्वाहा ! मैं बड़े अमीर से श्रेष्ठ हो जाऊं, स्वाहा ! मैं हे भगवन् ! उस तुझ में प्रविष्ट होऊं, स्वाहा। तू हे भगवन् ! मुझ में प्रविष्ट हो, स्वाहा ! हे भगवन् ! उस तुझ में जिस की सहस्रों शाखाएं (शबलरूप) हैं, मैं अपने आप को शोधन करता हूं, स्वाहा ! जैसे जल निचाई की ओर भागते हैं, जैसे महीने बरस में जा मिलते हैं, इस प्रकार हे धातः ! (पैदा करने वाले) ब्रह्मचारी सब ओर से मेरे पास

आवें स्वाहा ! तू विश्राम का स्थान (जायपनाह) है, मुझे (जगत् में) चमका, मुझे अपनी शरण में ले, स्वाहा ! ॥ ४॥

भाष्य—ये मन्त्र प्रार्थना और हवन के हैं, उन के लिये जो मेधा और श्री चाहते हैं। जैसा कि कहा है 'वह इन्द्र मुझे मेधा से बलवान् करे' और 'तब मेरे लिये श्री को ला,। गुरु चाहता है कि वह मेधा वाला हो, जिस से वह विद्यार्थियों को विद्या देने के योग्य हो, और कि उस के पास बहुतायत से अन्न वस्त्र और गौएं हों, और फिर उस के पास चारों ओर से योग्य विद्यार्थी आवें और वेदों को पढ़ें। यह सारी प्रार्थना (ओम्) परमेश्वर से की गई है। ओम् शबलरूप में सारे रूपों वाला है। वेद अमृत हैं, और ओम् सारे वेदों का सार है, यह ब्रह्म का निज नाम है।

शरीर के आरोग्य होना आदि के बिना मेधा भी निष्फल जाती है, इस लिए मेधा के अनन्तर मेरा शरीर आरोग्य हो इत्यादि से शरीर के आरोग्य और पुष्टि की प्रार्थना की है ॥

' तू मेधा से ढपा हुआ ब्रह्म का कोश है '=वह मियान, जिस के अन्दर चमकता हुआ ब्रह्म विराजमान है, वह ओम् है, अर्थात् लौकिक बुद्धि से ढपा हुआ है, सामान्य बुद्धि वाले तेरे तत्त्व को नहीं जानते हैं, (शंकराचार्य्य)।

'तब मुझे वह श्री ला दे...' मेधा की प्रार्थना के मन्त्र समाप्त करके ये उस के पीछे श्री की प्राप्ति के लिए होम के मन्त्र हैं। स्वाहा के अन्त में आहुति डालनी चाहिये। रोमों वाली से अभिप्राय है कि भेड़ आदि पशु मेरे पास हों, जिन के रोमों से वस्त्र बनते हैं।

संगति—ओंकार की उपासना कह कर अब व्याहृतियों के द्वारा अपर ब्रह्म की उपासना स्वराज्यफल की सिद्धि के लिए बतलाते हैं ।

पांचवां अनुवाक ॥ ५ ॥

भूर्भुवः सुवरिति वा एतास्तिस्रो व्याहृतयः । तासामुहस्मैतां चतुर्थीम् । माहाचमस्यः प्रवेदयते । मह इति । तद्ब्रह्म । स आत्मा । अङ्गान्यन्या देवताः । भूरिति वा अयं लोकः । भुव इत्यन्तरिक्षम् । सुवरित्यसौलोकः (१) । मह इत्यादित्यः । आदित्येन वाव सर्वे लोका महीयन्ते । भूरिति वा अग्निः । भुव इति वायुः । सुवरित्यादित्यः । मह इति चन्द्रमाः । चन्द्रमसा वाव सर्वाणि ज्योतिँषि महीयन्ते । भूरिति वा ऋचः । भुव इति सामानि । सुवरिति यजूँषि (२) । मह इति ब्रह्म । ब्रह्मणा वाव सर्वे वेदा महीयन्ते । भूरिति वै प्राणः । भुवइत्यपानः । सुवरितिव्यानः । महइत्यन्नम् ।

अन्नेन वाव सर्वे प्राणा महीयन्ते। ता वा एता-श्चतस्रश्चतुर्धा चतस्रश्चतस्रो व्याहृतयः। ता यो वेद। स वेद ब्रह्म। सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति। ३

असौ लोको, यजू ७ षि, वेद, द्वे च॥ ५॥

भूः, भुवः, स्वः, ये तीन व्याहृतियें हैं, माहाचमस्य (महाचमस गोत्रवाले ऋषि) ने उनमें एक चौथी (व्याहृति) बतलाई है- 'महः'। वह ब्रह्म है। वह आत्मा है। दूसरे देवता इस के अङ्ग हैं*।

भूः, यह लोक (पृथिवी) है, भुवः, अन्तरिक्ष है, स्वः, वह लोक (द्यौलोक) है, महः सूर्य है। सूर्य से सारे लोक महिमा वाले हैं। भू अग्नि है, भुवः वायु है, स्वः सूर्य है, महः चन्द्रमा

---

* 'भूः, भुवः, स्वः' ये तीन व्याहृतियें प्रसिद्ध हैं। इनमें चौथी महः है, जिसको माहाचमस्य ने पहले पहल देखा है। इन तीनों व्याहृतियों से जो २ शक्तियें अभिप्रेत हैं, उनमें चौथी व्याहृति ब्रह्म की जगह है, जो स्वयं अपनी महिमा रखती हुई दूसरों को महिमा वाली बना देती है, और यह आत्मा इस लिए है, कि दूसरी व्याहृतियें उसका अंग बन जाती हैं, और यह मध्यभाग के तौर पर समझी जाती है। शरीर का मध्य भाग जो धड़ है, वह हाथ आदि अङ्गों की वृद्धि का हेतु है, इस लिये वह उनका आत्मा कहलाता है। इसी प्रकार लोक आदि की महिमा का हेतु होने से आदित्य आदि उनका आत्मा हैं॥

है। चन्द्रमा से सब ज्योतियें (नक्षत्र) महिमा वाली होती हैं। भूः, ऋचाएं हैं, भुवः, साम हैं, स्वः यजु हैं, महः ब्रह्म* है। ब्रह्म से सारे वेद महिमा वाले हैं। भूः प्राण है, भुवः अपान है, स्वः, व्यान है, महः, अन्न है। अन्न से सारे प्राण महिमा वाले हैं। सो ये चार (व्याहृतियें) चार प्रकार की हैं † चार २ व्याहृतियें हैं। जो इनको जानता है, वह ब्रह्म को जानता है, सारे देवता इसके लिए बलि लाते हैं ॥ ५ ॥

छठा अनुवाक ॥ ६ ॥

स य एषो ऽन्तर्हृदय आकाशः । तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः। अमृतो हिरण्मयः। अन्तरेण तालुके। यः एष स्तन इवावलम्बते। सेन्द्रयोनिः। यत्रासौ केशान्तो विवर्तते। व्यपोह्य शीर्षकपाले । भूरित्यग्नौ प्रतितिष्ठति। भुव इति वायौ। (१) सुवरित्यादित्ये। मह इति ब्रह्मणि। आप्नोति स्वाराज्यम्। आप्नोति मनसस्प-

---

* ब्रह्म यहां ओम् है शब्द के अधिकार में ब्रह्म का यही अर्थ सम्भव है।

† एक २ व्याहृति जब चार २ प्रकार से उपासना की जाय, तो सोलह कला वाला पुरुष उपासना किया जाता है (आनन्दगिरि)

तिम् । वाक्पतिश्चक्षुष्पतिः । श्रोत्रपतिर्विज्ञान-पतिः । एतत् ततो भवति । आकाशशरीरं ब्रह्म । सत्यात्म प्राणारामं मन आनन्दम् । शान्तिस-मृद्धममृतम् । इति प्राचीनयोग्योपास्व (२)

वायौ, अमृतं, एकञ्च । अनु॰ ६ ।

यह जो हृदय के अन्दर आकाश है; उसमें यह पुरुष है, जो मनका मालिक अमृत और सुनहरी (ज्योतिर्मय) है * । दोनों तालुओं के मध्य में जो यह (मांस का एक टुकड़ा) स्तन सा लटकता है, यह इन्द्र (जीवात्मा) का स्थान है । अब जहां बालों की जड़ अलग २ होती है (मूर्धा में), वहां वह (जीवात्मा) सिरके दोनों कपालों को खोल कर, भूः कहता हुआ अग्नि में प्रविष्ट होता है; भुवः कहता हुआ वायु में प्रविष्ट होता है, स्वः, कहता हुआ सूर्य में प्रविष्ट होता है । महः कहता हुआ ब्रह्म (हिरण्यगर्भ) में प्रविष्ट होता वहां वह स्वाराज्य को प्राप्त होता है । वह मन का पति हो

* यह आत्मा का स्थान और स्वरूप वर्णन किया है । इसके आगे जो, 'दोनों तालुओं के मध्य में' इत्यादि से मार्ग बतलाया है, यह वह मार्ग है जिससे उपासक का लिंगशरीर मृत्यु के समय बाहर निकलता है। वह मार्ग सुषुम्ना नाडी है, जो तालुओं के मध्य में से होकर मूर्धा तक पहुंची है। वहां वह सिर के दोनों कपालों को खोलकर भूः भुवः स्वः महः की उपासना की वासनानुसार अग्नि, वायु, सूर्य और ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है ।

जाता है। वह वाणी का पति होजाता है। नेत्र का पति, श्रोत्र का पति और विज्ञान का पति होजाता है (मन, वाणी, नेत्र, श्रोत्र, उसके बस में होते हैं), इससे आगे बढ़ कर वह ब्रह्म होता है*, जिसका शरीर आकाश है, जिसका स्वभाव सचाई है। वह इन्द्रियों में रमण करता है, मन में आनन्द वाला, शान्ति में पूर्ण है और अमृत है, इस प्रकार हे प्राचीनयोग्य † तू उसकी उपासना कर।

सातवां अनुवाक॥ ७॥

संगति-यज्ञ और उपासनाओं के विषय में जो बाह्य और अध्यात्म शक्तियों का आपस में सम्बन्ध है, उस का वर्णन—

पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौर्दिशोऽवान्तरादिशः। अग्निर्वायुरादित्यश्चन्द्रमा नक्षत्राणि। आप ओषधयो वनस्पतय आकाश आत्मा। इत्यधिभूतम्। अथाऽध्यात्मम्। प्राणो व्यानोऽपान उदानः समानः। चक्षुः श्रोत्रं मनो वाक् त्वक्। चर्ममांसꣳस्नावास्थि मज्जा। एतदाधि विधाय

* अर्थात् मुक्त होता है, मुक्ति में ब्रह्म के सदृश होने से ब्रह्म कहा जाता है।

† यह माहाचमस्य ने अपने शिष्य प्राचीनयोग्य को उपदेश किया है?

ऋषिरवोचत्। पाङ्क्तं वा इदँ सर्वम्। पाङ्क्तेनैव पाङ्क्तँ स्पृणोतीति (१)

सर्वम्. एकं च। अनु० ७।

पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ, दिशाएं और अवान्तर दिशाएं*। अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा और नक्षत्र † जल, ओषधियें, वनस्पति, आकाश, और आत्मा (विश्वात्मा, विराट्) ‡ यह सब बाह्य भूतों के साथ सम्बन्ध रखता है। अब जो शरीर के साथ सम्बन्ध रखते हैं उनको बतलाते हैं, प्राण, व्यान, अपान, उदान, समान, §—नेत्र, श्रोत्र, मन, वाणी, त्वचा, ‖—चर्म, मांस, नाडी, हड्डी, और चर्बी, ¶ यह सब पाङ्क्त (लोक, देवता, भूत, प्राण, इन्द्रिय, और धातुओं की पांच २ की पङ्क्ति) कह कर ऋषि ने बतलाया है, जो कुछ यह है, यह सब पाङ्क्त है (पांच २ का समूह है)।

पाङ्क्त के द्वारा ही वह दूसरे पाङ्क्त को बलवान् बना देता है ** (जो उपासना से बाह्य और अध्यात्म पाङ्क्त को एक बना लेता है)

---

* यह लोक पाङ्क्त (पांच का समूह) है † यह देवता पाङ्क्त है ‡ यह भूत पाङ्क्त है। यह तीनों पाङ्क्त बाह्य जगत् के साथ सम्बन्ध रखते हैं: § यह प्राण पाङ्क्त है ‖ यह इन्द्रिय पाङ्क्त है¶ यह शरीर के धातुओं का पाङ्क्त है। यह तीनों पाङ्क्त शरीर के साथ सम्बन्ध रखते हैं।

** अध्यात्म पाङ्क्त से बाह्य पाङ्क्त को, और बाह्य पाङ्क्त से अध्यात्म पाङ्क्त को बलवान् बनाता है।

आठवां अनुवाक ॥ ८ ॥

संगति–ओंकार परापर ब्रह्म की प्राप्ति का साधन है, इस हेतु से वह सारे वैदिक कर्मों और सारी उपासनाओं का अंग माना गया है, यह दिखलाते हैं—

ओमिति ब्रह्म। ओमितीदँ सर्वम्। ओमित्येतदनुकृतिहस्मवै अप्योश्रावयेत्याश्रावयन्ति। ओमिति सामानि गायन्ति। ओँ शोमिति शस्त्राणि शँसन्ति। ओमित्यध्वर्युः प्रतिगरं प्रतिगृणाति। ओमिति ब्रह्मप्रसौति। ओमित्यग्निहोत्रमनुजानाति। ओमिति ब्राह्मणः प्रवक्ष्यन्नाह ब्रह्मोपाप्नवानीति ब्रह्मैवोपाप्नोति (१)

ओं दश। अनु० ८ ॥

१–ओम् यह ब्रह्म है (ब्रह्म का वाचक है), २–ओम् यह सब कुछ है (समष्टि व्यष्टि रूप शबल ब्रह्म का वाचक है,) ३–ओम् यह आज्ञा मानना है (जा, पढ़ इत्यादि कहने पर छोटे उस आज्ञा को अंगीकार करते हुए 'ओम्' कहते हैं, अर्थात् ओम् अंगीकार का वाचक है;) (न केवल लौकिक व्यवहार का ही ओम् कारण है; किन्तु वैदिक सारे व्यवहारों में भी कारण है यह बतलाते हैं) ४–किश्च–ओ (ओम्) सुना (मन्त्र सुना) ऐसा कहने पर (ऋत्विज) मन्त्रों को सुनाते हैं ५–ओम्

कह कर साम गाते हैं; ६-ओं शों (शम्+ओम्=शोम्=सुख रूप ओम्) कह कर शस्त्रों (ऋग्वेद के मन्त्रविशेषों) को पढ़ते हैं; ७-ओम् कह कर (सोमयज्ञ में) यजुर्वेदी प्रतिगर (प्रोत्साहक मन्त्र विशेष) पढ़ता है; ८-ओम् कह कर ब्रह्मा (कर्म करने की) अनुज्ञा देता है; ९-ओम् कह कर अग्निहोत्र की अनुज्ञा देता है; १०-जब कोई ब्राह्मण वेद का प्रवचन करना (पढ़ाना वा व्याख्यान कहना) चाहता है, तो वह ओम् कहता है, इस अभिप्राय से, कि मैं ब्रह्म (वेद) को प्राप्त होऊं, और इस प्रकार वह ब्रह्म को अवश्य पा लेता है ॥ ८ ॥

नवां अनुवाक ॥ ९ ॥

संगति—वेद के विचार प्रचार से और वैदिक जीवन के धारने से जन्म सफल होता है, यह दिखलाते हैं—

ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यं च स्वाध्याय प्रवचने च। तपश्च स्वाध्ययप्रवचने च। दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अभयश्च स्वध्याय प्रवचने च। अग्निहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च। अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यमिति

सत्यवचा राथीतरः । तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः । स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः । तद्धि तपस्तद्धि तपः (१)

प्रजाच स्वाध्याय प्रवचनेच, षट्च । अनु० ६ ॥

* ऋत, और स्वाध्याय और प्रवचन (वेद का विचार और प्रचार) । सत्य, और स्वाध्याय और प्रवचन । तप, और स्वाध्याय और प्रवचन । मन को शान्त रखना और स्वाध्याय और प्रवचन । इन्द्रियों का दमन करना और स्वाध्याय और प्रवचन । अग्नियें (स्थापन करना) और स्वाध्यायऔर प्रवचन । अग्निहोत्र और स्वाध्याय और प्रवचन । अतिथि (अतिथियों की सेवा करना) और स्वाध्याय और प्रवचन । मानुष (लौकिक व्यवहार) और स्वाध्याय और प्रवचन । सन्तान (का पालन पोषण) और स्वाध्याय और प्रवचन । (सन्तान का उत्पादन

---

* यह अनुवाक इस बात के प्रकट करने के लिये है, कि केवल वेदों का पढ़ना ही मनुष्य का परम उद्देश्य नहीं, किन्तु वैदिक जीवन जिस का यहां ऋत आदि शब्दों से वर्णन है, वह उस का उद्देश्य है, हां साथ ही वेद का स्वयं विचार करना और विचारे हुए को दूसरों तक पहुंचाना ये दोनों काम व्रत के तौर पर सदा प्रवृत्त रहने चाहियें, इसी लिये प्रत्येक कर्म के साथ वेद का पढ़ना पढ़ाना कहा है । ऋत और सत्य के अर्थ पहले अनुवाक में लिख आए हैं ।

करना) और स्वाध्याय और प्रवचन। पुत्र पोतों से फैलाव और स्वाध्याय और प्रवचन।

सत्यवचा रथीतर गोत्री मानता है, कि सचाई ही आवश्यक है। पुरुशिष्ट का पुत्र तपोनित्य मानता है, कि तप केवल आवश्यक है *। मुद्गल का पुत्र नाक मानता है, कि स्वाध्याय और प्रवचन ही आवश्यक हैं, क्योंकि वह ही तप है, वह ही तप है † (२)॥९

दसवां अनुवाक १०॥

अहं वृक्षस्य रेरिवा। कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिव। ऊर्ध्वपवित्रो वाजिनीव स्वमृतमस्मि। द्रविणꣳसुवर्चसम्। सुमेधा अमृतोक्षितः। इति त्रिशंकोर्वेदानुवचनम् (१)। अहं षट्। अनु० १०।

मैं (संसार रूपी) वृक्ष को हिलाने वाला हूं। मेरी कीर्ति पर्वत के शिखर की नाईं है। मैं वह हूं जिस (के ज्ञान)

---

* सत्यवचा, नाम है, अथवा सत्यवादी। तपोनित्य नाम है अथवा तप में तत्पर।

† स्वाध्याय और प्रवचन के तुल्य कोई तप नहीं है। इस लिए यह ही अनुष्ठेय है।

का पवित्र (प्रकाश) ऊंचा उदय हुआ है * मानो सूर्य में है। मैं वह हूं जो असली अमृत है†। मैं चमकता हुआ धन (खज़ाना) हूं। मैं सुमेधा हूं, अमृत हूं, क्षीण न होने वाला। यह त्रिशङ्कु का वेदोपदेश है, (यह वेद की शिक्षा त्रिशङ्कु से दी गई है) ॥१०

भाष्य—पूर्वोक्त वेदविचार प्रचार और वैदिक जीवन के धारण से हृदय की शुद्धि हो कर त्रिशङ्कु ऋषि को यह आर्षज्ञान बिना उपदेश के प्रकट हुआ। आत्मज्ञान के उदय से कृतकृत्य हो कर ऋषि ने अपनी कृतकृत्यता को इस में गाया है। अब भी जो कोई पूर्वोक्त धर्मों और स्वाध्याय और प्रवचन का नियम से पालन करेगा, वह इसी प्रकार शुद्ध हृदय में आत्मा के दर्शन करके कृतकृत्य हो जायगा।

ग्यारहवां अनुवाक ॥ ११ ॥

संगति-वेदाध्ययन के पीछे जिस प्रकार लोक में रहना चाहिये, उस के लिये आचार्य अपने शिष्य को शिक्षा देता है, जब वह विद्या पढ़ कर घर वापिस होने को है :—

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिन मनुशास्ति। सत्यंवद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः।

---

* ऊर्ध्व=कारण, पवित्र=पावन ब्रह्म, जिस का कारण पावन ब्रह्म है वह मैं हूं। शोभन अमृत=शुद्ध आत्मतत्त्व, अथवा अमृत से सेचन किया हुआ (शंकराचार्य)

† यह मन्त्र जप के लिये है क्योंकि यह कर्म के प्रसङ्ग में आया है। मुमुक्षु को चाहिये, कि शुद्ध पवित्र और एकाग्र हो कर इस का जप करे, इस से उस का अन्तःकरण शुद्ध हो कर उसे ब्रह्म का ज्ञान होगा। किञ्च पूर्व जो श्रौत और स्मार्त

आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं माव्य-
वच्छेत्सीः । सत्यान्न प्रमदितव्यम् । धर्मान्न
प्रमदितव्यम् । कुशलान्न प्रमदितव्यम् । भूत्यै
न प्रमदितव्यम् । स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रम-
दितव्यम् (१) देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदि-
तव्यम् । मातृदेवो भव । पितृदेवो भव । आचा-
र्यदेवो भव । अतिथिदेवो भव । यान्यनवद्यानि
कर्माणि । तानि सेवितव्यानि । नो इतराणि ।
यान्यस्माकꣳ सुचरितानि । तानि त्वयोपा-
स्यानि (२) । नो इतराणि । ये के चास्म-
च्छ्रेयाꣳसो ब्राह्मणाः । तेषां त्वयाऽऽसनेन प्रश्व-
सितव्यम् । श्रद्धयादेयम् । अश्रद्धयाऽदेयम् ।
श्रियादेयम् । ह्रिया देयम् । भिया देयम् ।

कर्म कहे हैं उन को ईश्वरार्पणबुद्धि से करने वाले की बुद्धि शुद्ध हो कर बिना उपदेश के ही इस प्रकार आर्षज्ञान उत्पन्न होता हैं, इस लिये मुमुक्षु को ईश्वरार्पण बुद्धि से इन कर्मों में तत्पर होना चाहिये (सुरेश्वराचार्य) ।

संविदा देयम् । अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात् (३) । ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः । युक्ता आयुक्ता । आलूक्षा धर्मकामाः स्युः । यथा ते तत्र वर्तेरन् । तथा तत्र वर्तेथाः । अथाभ्याख्यातेषु । ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः । युक्ता आयुक्ताः । आलूक्षा धर्मकामाः स्युः । यथा ते तेषु वर्तेरन् । तथा तेषु वर्तेथाः । एष आदेशः । एष उपदेशः । एषा वेदोपनिषत् । एतदनुशासनम् । एव मुपासितव्यम् । एवमु चैतदुपास्यम् (४)

स्वाध्याय प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्, तानि त्वयोपास्यानि, स्यात्, तेषु वर्तेरन्, सप्त च । अनु० ॥ ११

वेद पढ़ा कर आचार्य शिष्य को अनुशासन करता है। सत्य बोलो! धर्म का आचरण करो! स्वाध्याय से प्रमाद न करो (नित्य के स्वाध्याय को कभी मत भूलो)!। आचार्य के लिये प्यारा धन ला कर (विद्यादान के योग्य दक्षिणा देकर) सन्तान के तागे (सिलसिले) को मत काटो (गृहस्थ में प्रवेश करके सन्तान के उस सिलसिले को जो पूर्वजों से चला आ

रहा है, प्रवृत्त रक्खो) ! सचाई से कभी प्रमाद न करना * ! धर्म से कभी प्रमाद न करना ! कुशल (जो कुछ उपयोगी है उस) से कभी प्रमाद न करना । ऐश्वर्य्य के (बढ़ाने के) लिये कभी प्रमाद न करना । स्वाध्याय † और प्रवचन से कभी प्रमाद न करना । देवकार्य और पितृकार्य (तुम्हारा जो कर्तव्य देवताओं की ओर है, और जो पितरों की ओर है, उस) से प्रमाद न करना । माता को देवता की नाईं ‡ मानो । पिता को

---

* भूल कर भी कभी तनिक भी झूठ न बोलना इत्यादि बल देने के लिये फिर दुबारा सत्य आदि का ग्रहण किया है ॥

† यद्यपि 'स्वाध्यायान्माप्रमदः' इसी से स्वाध्याय में प्रमाद रहित होने के लिये बल दिया है, तथापि सब कर्तव्यों से स्वाध्यायमें बढ़ कर प्रयत्न करना चाहिये, इस प्रयोजन के लिये फिर स्वाध्याय कहा है ।

‡ अक्षरार्थ यह है–माता [रूपी] देवता वाले बनो । अर्थात् माता, पिता, आचार्य और अतिथि तुम्हारे लिये देवता के तुल्य हों, तुम प्रातःकाल उठ कर जब अपने माता पिता का दर्शन करते हो, तो जानो कि अपने देवता का दर्शन किया है, तुम्हारे माता पिता चिरस्थायी हों इस के लिये कृतज्ञ होकर सदा प्रार्थी रहो । ' मानो वधीः पितरं मोत मातरम् ' (ऋग्वेद) । क्योंकि जब तक वे जीते हैं, तुम्हारे घर में तुम्हारे पूज्य देवता हैं । इसी प्रकार आचार्य और अतिथि जब तुम्हारे घर आते हैं, तो तुम्हारे घर देवता पधारते हैं । मन वाणी और कर्म से उन की सेवा करो, कभी किसी प्रमाद से भी उन का अनिष्ट न करो ।

देवता की नाईं मानो । आचार्य को देवता की नाईं जानो । अतिथि को देवता की नाईं जानों । जो कर्म निर्दोष, हैं, उन का सदा अनुष्ठान करो । दूसरे नहीं । (अपने स्थान पर आए) जो कोई हम से उत्तम ब्राह्मण हैं, उन को आसन देने से आराम दो ! (जो कुछ दो) श्रद्धा से दो ! अश्रद्धा से मत दो * ! खुशी से दो ! विनीतभाव से दो ! भय से दो । प्रेमभाव से दो ! और यदि तुझे किसी धर्मकार्य में संदेह हो, वा किसी वृत्त (आचार व्यवहार) में संदेह हो, तो जो ब्राह्मण वहां यथार्थ निर्णय करने वाले हैं, चाहे वे (राजा आदि की ओर से उस काम पर) नियुक्त हों, और चाहे अनियुक्त (स्वतन्त्र) हों, रूखे न हों (प्रेम से बर्तने वाले हों) और धर्म से प्यार करने वाले हों (अर्थ और काम में आसक्त न हों) जैसे वे (ब्राह्मण) उस (विषय) में बर्तें, वैसे तू उनमें बर्त । और जो अभिशस्त (जिन पर संदिग्ध दोष लगाया गया है) हैं, उनके विषय में भी जो वहां ब्राह्मण यथार्थ निर्णय करने वाले नियुक्त या अनियुक्त हों, रूखे न हों और धर्म से प्यार करने वाले हों, जैसे वे उनके विषय में बर्तें, वैसे तू उनमें बर्त । यह आदेश (तुम्हारे लिये विधि) है । यह (हमारा) उपदेश है । यह वेद की उपनिषद् (रहस्य, गुह्यतात्पर्य, परमतात्पर्य) है । यह अनुशासन (शिक्षा) है । इस प्रकार तुम्हें सदा अनुष्ठान करना चाहिये । ठीक इसी प्रकार यह सदा अनुष्ठान के योग्य है ॥ ११ ॥

बारहवां अनुवाक (समाप्ति का शान्तिपाठ)

---

* श्रद्धा से दो, अश्रद्धा से दो (विद्यारण्य और राघवेन्द्रयति)

शं नो मित्रः । शं वरुणः । शं नो भवत्वर्यमा । शं न इन्द्रो बृहस्पतिः । शंनो विष्णुरुरुक्रमः । नमो ब्रह्मणे । नमस्ते वायो । त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि । त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्मावादिषम् । ऋतमवादिषम् । सत्यमवादिषम् । तन्मामावीत् । तद्वक्तारमावीत् । आवीन्माम् । आवीद्वक्तारम् । ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥(१)

सत्यमवादिषं पञ्च च ॥ १२ ॥

शंनः, शीक्षां, सहनौ, यश्छन्दसाम्, भूः, सयः, पृथिवी, ओ मिति, ऋतं च, अहम्, वेदमनूच्य, शंनः, (द्वादश*)

शंनः, मह इत्यादित्यः, नो इतराणि, त्रयोविंशतिः †

---

* शिक्षावल्ली में अनुवाक बारह हैं । यह उन बारह अनुवाकों की आदि की बारह प्रतीकें हैं । और उनकी संख्या बतलाने के लिये अन्त में द्वादश कहा है । इस वल्ली में जो आदि और अन्त में शान्तिपाठ पढ़ा है, उनको भी एक स्वतन्त्र अनुवाक के तौर पर गिना गया है । तैत्तिरीयारण्यक में यहां ही शान्तिमन्त्रों को अनुवाकों में गिना है, और कहीं नहीं ।

† ये दहाकों के दहाके दिये गए हैं । 'शन्नोमित्रः' से पहला दहाका आरम्भ होता है 'मह इत्यादित्यः' (अनुवाक ५ दहाका २) से दूसरा । और 'नोइतराणि' (११ । १) से

ब्रह्मवल्ली (आनन्दवल्ली)

* सहनाववतु। सहनौभुनक्तु। सहवीर्य

तीसरा दहाका आरम्भ होता है, 'नो इतराणि' से लेकर पूरे दस दहाके नहीं हुए, किन्तु तीन ही हैं। इस लिये बीस पहले और तीन ये मिल कर २३ (त्रयोविंशति) दहाके इस प्रपाठक (शिक्षावल्ली) में हैं।

ये प्रतीकें जो अनुवाकों की समाप्ति में ग्रन्थ की रक्षा के लिये कई प्रकार से दी गई हैं। पुराने आचार्यों ने इनके विषय में कुछ लिखा नहीं। पर नए आचार्य जो स्वयं न समझ कर भी दूसरों को समझाने के लिये तय्यार रहते हैं। उन्होंने जो इनके अर्थ किये हैं। बस सारी विद्या यहां समाप्त करदी है। वे इनको भी उपनिषद् का हिस्सा समझ कर इनका अर्थ ढूंढते हैं। जब अर्थ में कोई संगति नहीं लगती। तो कुछ अपने पास से डालते हैं, कुछ उसको खींचते हैं। किसी की जगह बदलते हैं, किसी को छोड़ देते हैं, यह सब करके कुछ बेतरहसा अर्थ निकाल लेते हैं। यही चाल उनकी बाकी उपनिषद् के अर्थ में भी है। हम सविनय कहते हैं, कि हमने अपने पाठकों को ऐसी भ्रान्तियों से सर्वथा बचाया है। यथार्थ बात ढूंढने में हम पूरा परिश्रम उठाते हैं, तिस पर जो हमारी समझ से ऊपर रहे, उसके विषय में अपना अज्ञान मानना ही हम उचित समझते हैं॥

* स्वामि शंकराचार्य ने यहां उस शान्तिपाठ को भी इससे पहले पढ़ना लिखा है, जो शिक्षावल्ली के आरम्भ में है।

करवावहै । तेजस्विनावधीतमस्तु । माविद्विषाव है । ओं शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

(ब्रह्म) हम दोनों (शिष्य और आचार्य) की रक्षा करें । वह हम दोनों को पाले (भुगाए) हम मिल कर बल बनाएं, हमारा पढ़ा हुआ चमकने वाला हो । हम कभी द्वेष न करें ।

ओ३म् शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

ओं ब्रह्मविदाप्नोति परम् । तदेषाभ्युक्ता । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् । सोऽश्नुते सर्वान् कामान् । सह ब्रह्मणा विपश्चितेति' ।

तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकश : सम्भूतः । आकाशाद्वायुः । वायोरग्निः । अग्नेरापः । अद्भ्यःपृथिवी, पृथिव्या ओषधयः । ओषधीभ्योऽन्नम् । अन्नात्पुरुषः । स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः । तस्येदमेव शिरः । अयं

पर दूसरे व्याख्या कारों ने यहां 'सहानाववतु, 'कोही शान्तिपाठ में पढ़ा है, और तैत्तिरीय आरण्यक में भी इतना ही शान्तिपाठ है ।

दक्षिणः पक्षः। अयमुत्तरः पक्षः। अयमात्मा। इदं पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति॥

ब्रह्मवेत्ता परब्रह्म को पालेता है *। इस पर यह ऋचा कही गई है—

'वह जो उस ब्रह्म को जानता है, जो सत्य (सदा एक रस वर्त्तमान) ज्ञान (चेतन) और अनन्त है, और (हृदय की) गुफा के अन्दर परम आकाश (हृदयाकाश) में छिपा हुआ है, वह उस सर्वज्ञ ब्रह्म के साथ मिल कर सारी कामनाओं को भोगता है।

उस आत्मा (सर्वान्तरात्मा ब्रह्म) से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी।

पृथिवी से ओषधियें ओषधियों से अन्न। अन्न से वीर्य। वीर्य से पुरुष †। इस प्रकार यह पुरुष (स्थूल शरीर) अन्नरसमय है,

---

* आगे जो ब्रह्मविद्या विस्तार से कहनी है, उस सारी का यह वाक्य मूल सूत्र है, अगले मन्त्र में इसका संक्षिप्त आशय कहा है, और फिर आगे सारी उपनिषद् इसका विस्तार है।

† यद्यपि पुरुष की नाई अन्य प्राणधारी भी इसी क्रम से उत्पन्न होते हैं, तथापि यहां यतः ब्रह्म विद्या का वर्णन है, जिसका अधिकारी पुरुष ही है, इसी लिये पुरुष के अन्दर आगे पांचों कोशों का निरूपण करना है, इस लिये यहां केवल पुरुष की उत्पत्ति दिखलाई है। पुरुष की उत्पत्ति दिखला कर 'सवा एष पुरुषोऽन्नरसमयः' इत्यादि से उसके शरीर में पांचों कोश

(अन्न के सार का बना हुआ है) । उस (अन्नरसमय) का यही सिर है। यह (दाईं भुजा) दायां पक्ष है। यह (बाईं भुजा) बायांपक्ष है। यह (देह का मध्य भाग) आत्मा (धड़) है ।

दिखलाए हैं, जिनमें से पहला अन्नमय कोश है, जो स्थूल देह रूप है। हर एक कोष को पक्षी रूप में वर्णन करने के लिये उसके पांच २ अंग बतलाए हैं। सिर, दायां पक्ष, बायां पक्ष, धड़ और पुच्छ। पक्षों से अभिप्राय पंख और पुच्छ से अभिप्राय टांगों से है, इसी लिये पुच्छ के साथ प्रतिष्ठा शब्द कहा है। प्रतिष्ठा, सहारा। बैठने उड़ने में टांगें पञ्छी का आधार होती हैं। पञ्छी की पुच्छ से पशुओं की नाईं नीचे लटकती हुई टांगों से अभिप्राय है। यहां पहले अन्नमय कोश में यह अंग इस तरह दिखलाए हैं । यह सारा शरीर एक पक्षी है, इस पक्षी का सिर यही है, जो सिर है, दाईं भुजा दायां पंख है, बाईं भुजा बायां पंख है । यह धड़ ही पक्षी का धड़ है, और टांगें पुच्छ हैं, जो इस पञ्छी के देह का आधार हैं, जिन पर यह खड़ा है। अगले चारों कोशों में जो अंग दिखलाए हैं, वह कल्पना किये गए हैं, प्राणमय कोश में प्राण को सिर कहा है। प्राण कोई सिर नहीं, उसको सिर की जगह कल्पना कर लिया है। पर यहां अन्नमय कोश में ये अंग सारे असली पाए जाते हैं, इस लिए यहां उस अंग का नाम न लेकर यह २ शब्द कहते गए हैं, यही सिर है, यह दायां पंख है, इत्यादि। यह अर्थात् प्रसिद्ध । यह जो प्रसिद्ध सिर है, यही सिर है, अर्थात् यहां प्राणमयादि की नाईं कल्पित सिर नहीं ।

यह (नाभि से नीचे का अंग) पुच्छ है जो सहारा है । इस पर यह श्लोक है ॥ १ ॥

व्याख्या--वेदका पढ़ना पढ़ाना, नेक चाल चलन और वैदिक कर्मों का अनुष्ठान, ये हृदय को शुद्ध बनाते हैं, इस लिये इनको पहले वर्णन किया है । क्योंकि शुद्ध हृदय में ही शुभ्र-ज्योति परब्रह्म के दर्शन हो सकते हैं, इसलिये इन को कह कर अब ब्रह्मविद्या का आरम्भ करते हैं 'ब्रह्मवेत्ता पर ब्रह्म को पालेता है,यह बचन ब्रह्मविद्या का मूलसूत्र है । ब्रह्म का पालेना ही मोक्ष है । ब्रह्म को पाने के लिये कहीं चलकर जाना नहीं है। अनन्त (=व्यापक) ब्रह्म तुम्हें सदा प्राप्त हैं, वह तुम्हारे हृदय में रहते हैं, उन के दर्शन ही उन की प्राप्ति है । तुम उनको भूले हुए हो, यही उन से जुदाई है, इसी भूल को दूर करना उन को पाना है । उनके दर्शन पाने के लिए अपने ज्ञान की ज्योति को बाहर से समेट कर अन्दर वापिस करो । और इस ज्ञान के दीपक को हृदय की गुफा (अपने रहने के मन्दिर) में जलाओ । वह इस गुफा के अन्धेरे में छिपे हुए हैं, यहां ही दीपक जलाओ । जहां तुम स्वयं रहते हो । उस मन्दिर को तो घुप अन्धेरे में रख कर सारा प्रकाश तुम बाहर भेज रहे हो, इस लिए वह तुम्हें दीखते नहीं । अब उस प्रकाश को यहां फैलने दो, देखो अन्धेरा दूर होते ही इसी गुफा के अन्दर जो निर्मल आकाश है, उस आकाश में परिपूर्ण वह 'सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म' तुम्हारे सम्मुख प्रकट हो जाएंगे । तब तुम्हारे वर मांगने का वेला आएगा क्योंकि तुमने अपने अधिपति के दर्शन किये हैं, जो कुछ चाहो मांग सकते हो, पर क्या अब

मांगने की कोई आवश्यकता रह गई है नहीं! नहीं!! कुछ नहीं !!! यहां तो पहुंचने की ही देरी थी, कि सारी की सारी कामनाएं एक दम पूर्ण हो गई 'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता' (प्रश्न) ब्रह्म जब सारे परिपूर्ण हैं तो फिर उन की उपलब्धि हृदयाकाश में ही क्यों होती है? इस का उत्तर यह है, निःसन्देह! वह सर्वत्र परिपूर्ण हैं, और सर्वत्र ही उन की उपलब्धि होती है। सारा विश्व उन्हीं की महिमा गा रहा है, और उन्हीं के दर्शन करा रहा है, वह इस सारे विश्व में आनन्द और अमृत स्वरूप से चमक रहे हैं। तथापि बाह्य जगत् उन के जिस रूप को हमारे सामने रखता है, वह उन का निखरा हुआ स्वरूप नहीं। वह दर्शन उनके इस भान्ति के हैं, जैसे एक तेजस्वी ब्रह्मवर्चसी ऋषि को देख कर उस के अन्दर वास करते हुए एक जाज्वल्यमान आत्मा का ध्यान होता है, जिस की महिमा उस के चेहरे से प्रकाशित हो रही है। ब्रह्म के दर्शन भी बाह्य जगत् में इसी प्रकार होते हैं। पर जब हम उन के स्वरूप के दर्शन चाहते हैं तो हमें वहां प्रवेश करना होगा, जहां वह सारे तत्त्वों से निखरे हुए हो कर विराजते हैं, वह स्थान हृदय है। हृदय के परम आकाश में उन का शुद्ध स्वरूप है। बाह्य जगत् में इन्द्रियों से उनकी महिमा देखी जाती थी, पर यहां इन्द्रियों की पहुंच नहीं है। यहां उन का दिखलाने वाला भी आत्मा है, और देखने वाला भी आत्मा है, 'यदात्मतत्वेन तु ब्रह्मतत्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत। अजं ध्रुवं सर्वतत्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः' (श्वेता० उप० २। १५)=जब योगयुक्त हो कर आत्मतत्व से ब्रह्मतत्व

को देखे, जो अज ध्रुव (कूटस्थ) और सारे तत्त्वों से विशुद्ध (निखरा हुआ) है, तब उस देव को जानते ही सारी फांसों से छूट जाता है'। ऐसी उपलब्धि केवल हृदयाकाश में ही होती है; इस लिये कहा है—'यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्'

संगति—अब, वही सारी सृष्टि को रच कर उस में अन्तरात्मा होकर प्रविष्ट है, उसके शुद्ध स्वरूप के दर्शन करने के लिये जिन २ परदों को उठा २ कर उस २ के अन्दर घुसते हुए जहां पहुंच कर उनके साक्षात् दर्शन होते हैं, उस क्रम को वर्णन करने के लिये पहले सृष्टिक्रम का और फिर पांच कोशों का वर्णन करते हैं *।

दूसरा अनुवाक ॥ २ ॥

'अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते । याः काश्च पृथिवीꣳश्रिताः । अथो अन्नेनैव जीवन्ति । अथैनदपियन्त्यन्ततः । अन्नꣳहि भूतानां ज्येष्ठम् । तस्मात् सर्वौषध मुच्यते' ।

सर्वं वै तेऽन्नमाप्नुवन्ति । येऽन्नं ब्रह्मोपासते। अन्नꣳहि भूतानां ज्येष्ठम् । तस्मात् सर्वौष-

* 'तस्माद्वा' से लेकर 'अन्नात् पुरुषः' तक सृष्टिक्रम का वर्णन है और 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः' से लेकर कोशों का वर्णन है।

धमुच्यते । अन्नाद् भूतानि जायन्ते । जातान्यन्नेन वर्धन्ते । अद्यतेऽत्ति च भूतानि । तस्मादन्नं तदुच्यत इति ।

तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयात्। अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम्। अन्वयं पुरुषविधः। तस्य प्राण एव शिरः। व्यानो दक्षिणः पक्षः। अपान उत्तरः पक्षः। आकाश आत्मा। पृथिवी पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति। २।

* अन्न से वह सारी प्रजाएं उत्पन्न होती हैं, जो पृथिवी पर रहती हैं। तब वह अन्न से ही जीती हैं, और फिर अन्त में अन्न में ही लीन होती हैं। क्योंकि अन्न सब भूतों (जन्तुओं)

---

* अन्न कई जगह पर असंकुचित अर्थ अर्थात् विराट् (मैटर) के अभिप्राय में प्रयुक्त हुआ है, ऐसा ही यहां भी है। विराट् से सारी प्रजाएं उत्पन्न होती हैं, उसी से बढ़ती और उसी में लीन होती हैं।

का बड़ा है, इस लिये वह सर्वौषध कहलाता है।*

वे जो अन्न को ब्रह्म (के तौर पर) उपासते हैं †, वे समस्त (हर एक) अन्न को प्राप्त होते हैं। क्योंकि अन्न सब भूतों का बड़ा है, इस लिये सर्वौषध कहलाता है। अन्न से सारे जन्तु उत्पन्न होते हैं, जब उत्पन्न होजाते हैं, तो अन्न से बढते हैं, क्योंकि यह खाया जाता है (भूतों से) और कि सारे भूतों को खाजाता है, इस लिये वह अन्न कहलाता है ‡।

§ यह जो अन्नरस का बना (शरीर) है, इससे भिन्न एक और अन्तर आत्मा है, जो प्राणमय (प्राण रूप) है।

---

*अन्न न मिले तो जाठराग्नि धातुओं को जलाने लगता है। अन्न उस दाह का शान्त करने वाला है, इस लिए औषध है। और सबके लिये औषध है, इस लिये सर्वौषध है। अन्न से अभिप्राय अनाज नहीं, किन्तु खुराक है, जिसके लिये जो खुराक है, वही उसका अन्न है।

†उपासना से अभिप्राय यह ज्ञान है, कि सारे जन्तु अन्न से उत्पन्न होते, अन्न से जीते, और अन्न में लीन होते हैं, इस लिये (उत्पत्ति, वृद्धि और लय का हेतु होने से) अन्न ब्रह्म है।

‡ यहां तक अन्नमय कोश समाप्त हुआ।

§ अन्नमय कोश के अन्दर प्रवेश कराने के लिये उससे विलक्षण उसके अन्दर एक और कोश बतलाते हैं। जिस तरह छिलके हटाकर उसके अन्दर से चावल अलग किया जाता है, इस तरह सारे परदे हटाकर अन्दर ब्रह्म के दर्शन मिलते हैं। इस लिये क्रमशः सूक्ष्म से सूक्ष्म कोशों में प्रवेश कराते हैं।

उस (प्राणमय) से यह (अन्नरसमय) पूर्ण होरहा है (जैसे वायु से मशक) सो यह (प्राणमय) भी पुरुषाकार* ही है। उस (अन्नरसमय) की पुरुषाकारता के सदृश यह पुरुषाकार है। प्राण ही उसका सिर है। व्यान दायां पक्ष है। अपान बांया पक्ष है। आकाश धड़ है। पृथिवी † पुच्छ है, सहारा है। इस पर (प्राणमय के विषय में) यह श्लोक है।

तीसरा अनुवाक ॥ ३ ॥

'प्राणं देवा अनुप्राणन्ति। मनुष्याः पशवश्च ये। प्राणो हि भूतानामायुः। तस्मात्सर्वायुषमुच्यते॥

सर्वमेव त आयुर्यन्ति। ये प्राणं ब्रह्मोपासते। प्राणो हि भूतानामायुः। तस्मात् सर्वायुषमुच्यत इति। तस्यैष एव शारीर आत्मा। यः पूर्वस्य। तस्माद्वा एतस्मात् प्राणमयात्।

* यहां पुरुषाकार कहने से यह संभावित है, कि कोश पुरुषविध ही वर्णन किये हैं। सिर, दाईं, बांई भुजा, धड़ और टांगे यह पांच अंग हैं।

† प्राणों के विषय में आकाश और पृथिवी यथाकथञ्चित् समान और उदान के अभिप्राय से लेने चाहिये। अथवा जो मुख्य अर्थ है, वही ठीक है (शंकरानन्द)।

अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम्। अन्वयं पुरुष विधः। तस्य यजुरेव शिरः। ऋग्दक्षिणः पक्षः। सामोत्तरः पक्षः। आदेश आत्मा। अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति

देवता प्राण के सहारे सांस लेते हैं, और जो मनुष्य और पशु हैं वे भी (प्राण के सहारे सांस लेते हैं,) प्राण सारे जन्तुओं का आयु है, इस लिये सर्वायुष (सबका आयु) कहलाता है।

वे जो प्राण ब्रह्म को उपासते हैं, पूरी आयु को प्राप्त होते हैं। क्योंकि प्राण सब जन्तुओं का आयु है, इस लिये सर्वायुष कहलाता है। उसका यही शरीर आत्मा है, जो पहिले (अन्नमय) का है *।

* हम नहीं जानते, हमारे शरीर में क्या प्रबन्ध हो रहा है। भूख लगती है, खा लेते हैं। अब अन्दर जाकर क्या कुछ बन रहा है, हमें कुछ पता नहीं। बन रहा है, सब कुछ हमारे लिये, हमारे जीवन की रक्षा और वृद्धि के लिये, पर हम कुछ नहीं जानते। अन्दर जो कारखाना है, जिसकी हर एक कला अपना २ काम किये जा रही है। उस कारखाने का प्रबन्ध हमारे हाथ नहीं, हम तो उसके विषय में कुछ जानते ही नहीं।

यह जो प्राणमय है, इस से भिन्न, एक और, अन्तर आत्मा मनोमय है। उस (मनोमय) से यह (प्राणमय) पूर्ण हो रहा है। यह भी पुरुषाकार है। उस (प्राणमय) की पुरुषाकारता के सदृश यह पुरुषाकार है। यजु ही उसका शिर है। ऋचा उसका दायां पक्ष है। साम बायां पक्ष है। आदेश (विधि) धड़ है। अथर्वाङ्गिरस्* पुच्छ है सहारा है। इस पर

यह प्रवन्ध उसी के हाथ में है, जिसके हाथ में इस सारे विश्व का प्रबन्ध है। जो उस सूर्य का अन्तरात्मा होकर उस को नियम में चला रहा है, वही हमारे इस देह का अन्तरात्मा हो कर इस को अपने नियमों में स्थिर किये हुए है। वह ब्रह्म जो उस सूर्य का अन्तरात्मा है, वही इस अन्नमय कोश का अन्तरात्मा है, और इस अन्नमय कोश के अन्दर जो प्राणमय कोश है, उसका भी वही आत्मा है। जैसा अन्नमय उसका शरीर है और वह इसका आत्मा है, इसी प्रकार प्राणमय कोश भी उस का शरीर है, और वह इसका शारीर आत्मा है। इस आशय से कहा है, इसका यही शारीर आत्मा है, जो पहले का है। और इसी शबल रूप को लेकर 'ये अन्नं ब्रह्मोपासते' 'ये प्राणं ब्रह्मोपासते' इत्यादि कहा है। स्वामिशंकराचार्य जो इस का यह अर्थ करते हैं, कि उस पहले का यह शरीर आत्मा है, जो यह प्राणमय है। और इसी प्रकार आगे भी अर्थ किया है। इस अर्थ में अक्षरों का स्वारस्य नहीं है। और सुरेश्वराचार्य ने इसी अस्वारस्य को देख कर उस अर्थ में अरुचि प्रकट की है और यह अर्थ ठीक माना है।

* अथर्वाङ्गिरस्, वे मन्त्र जिन के द्रष्टा अथर्वाङ्गिरस हैं

(मनोमय के विषय में) भी यह श्लोक है ॥ ३ ॥

व्याख्या—यह नहीं जानना चाहिये, कि अन्न-मय कोश ही सब का जीवन हैं, किन्तु इसके अन्दर एक और प्राणमय कोश है, जिससे सारे प्राणधारी जीवन लाभ करते हैं। जब तक शरीर में प्राण वास करता है; तब तक जीवन है ॥

चौथा अनुवाक ॥ ४ ॥

यतो वाचो निवर्तन्ते । अप्राप्य मनसा सह । आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् । न बिभेति कदाचनेति । तस्यैष एव शारीर आत्मा । यः पूर्वस्य। तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयात् । अन्योऽन्तर-आत्मा विज्ञानमयः । तेनैष पूर्णः । स वा एष पुरुषविध एव । तस्य पुरुषविधताम् । अन्वयं पुरुषविधः । तस्य श्रद्धैव शिरः । ऋतं दक्षिणः पक्षः । सत्यमुत्तरः पक्षः । योग आत्मा । महः पुच्छं प्रतिष्ठा । तदप्येष श्लोको भवति ॥ ४ ॥

अर्थात् अथर्ववेद के मन्त्र । यजु ३६ । ५ में और छान्दोग्य ५ । ३६ में वेदों की स्थिति मनमें बतलाई है, और यहां भी मनोमय कोश के साथ वेदों का सम्बन्ध दिया है। इस से स्वामि शंकराचार्य यह आशय लेते हैं, कि वेद ज्ञानमय हैं, न कि शब्दमय ।

'वह जो ब्रह्म के उस आनन्द को जानता है, जहां से समस्त वाणियें मन समेत बिन पहुंचे लौटती हैं, * ब्रह्म के उस आनन्द को जानता हुआ वह सर्वथा अभय होजाता है'। उसका (मनोमय का) शरीर आत्मा वही है, जो पहले का है।

इस मनोमय से भिन्न, और अन्तर आत्मा है विज्ञानमय। उस (विज्ञानमय) से यह (मनोमय) पूर्ण हो रहा है। यह भी पुरुषाकार है, उसकी पुरुषाकारता के सदृश यह पुरुषाकार है। श्रद्धा ही उस का सिर है। ऋत दायां पक्ष है। सत्य बायां पक्ष है। योग (चित्त का एकाग्र होना) धड़ है। महः (महत्तत्त्व=समष्टिबुद्धित्व) पुच्छ है, सहारा है। इस पर (विज्ञानमय के विषय में) भी यह श्लोक है ॥ ४ ॥

यह श्लोक ब्रह्मानन्द की महिमा को बोधन करता है, जैसा कि आगे यह २। ९ में स्पष्ट ब्रह्म के विषय में है। यहां मनोमय के विषय में यह इस अभिप्राय से दिया है, कि मनोमय कोश मन और वाक्, (यजु, ऋचा, साम, आदेश, और अथर्व) रूप है। इस मन और बाणी की इतनी महिमा है, कि केवल एक निरञ्जन ब्रह्म को छोड़ कर और कुछ भी सारे विश्व में मन बाणी का अगोचर (अविषय) नहीं है। मन और बाणी सब जगह साथी बने रहते हैं, और वह बहुत कुछ भय से बचाते हुए

---

* मन और वाणी का विषय मन और वाणी नहीं होसकते, क्योंकि अपने आप में अपना व्यापार [काम] नहीं होसकता, इस लिये मन बाणी विशिष्ट मनोमय कोश से बाणियें मन के साथ लौट आती हैं, यह अभिप्राय है [आनन्दगिरि]

मनुष्य का हाथ पकड़ कर आगे लिये चले जाते हैं, जब तक कि वह पूर्ण अभय स्थान के द्वार पर नहीं पहुंच लेता । इस के आगे केवल ब्रह्मानन्द है । वहां केवल आत्मा पहुंचता है । ये बिना पहुंचे द्वार पर से लौटते हैं । हां द्वार पर पहुंचा कर लौटते हैं ॥

पांचवां अनुवाक ॥ ५ ॥

विज्ञानं यज्ञं तनुते। कर्माणि तनुतेऽपिच । विज्ञानं देवाः सर्वे। ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते। विज्ञानं ब्रह्म चेद्वेद। तस्माच्चेन्न प्रमाद्यति। शरीरे पाप्मनो हित्वा । सर्वान् कामान्त्समश्नुत इति । तस्यैष एव शारीर आत्मा । यः पूर्वस्य ।

तस्माद्वा एतास्माद्विज्ञानमयात् । अन्योऽन्तरआत्मा ऽऽनन्दमयः तेनैष पूर्णः । स वा एष पुरुषविधएव । तस्य पुरुषविधताम् ॥ अन्वयं पुरुषविधः । तस्य प्रियमेव शिरः । मोदो दक्षिणः पक्षः । प्रमोद उत्तरः पक्षः । आनन्द आत्मा। ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा॥ तदप्येष श्लोको भवति ॥ ५ ॥

विज्ञान (समझ, बुद्धि) यज्ञ को फैलाता है (पूरा करता है) और सारे दूसरे कर्मों को फैलाता है। सारे देव विज्ञान को ब्रह्म ज्येष्ठ * (सब से बड़ा) उपासते हैं। यदि कोई पुरुष विज्ञान को ब्रह्म जान लेता है, और उस से यदि प्रमाद नहीं करता, तो वह सारे पापों को शरीर में छोड़ करके सारी कामनाओं को भोगता है। इस का यही शारीर आत्मा है, जो पहले का है।

उस विज्ञानमय से और एक अन्तर आत्मा है-आनन्दमय। उस से यह पूर्ण हो रहा है। यह भी पुरुषाकार है। उस (विज्ञानमय) की पुरुषाकारता के सदृश यह पुरुषकार है। उस का प्रिय ही सिर है। मोद दायां पक्ष है। प्रमोद बायां पक्ष है। आनन्द आत्मा है। ब्रह्म पुच्छ है सहारा है। इस पर भी यह श्लोक है ॥ ५ ॥

छटा अनुवाक ॥ ६ ॥

असन्नेव स भवति। असद् ब्रह्मेति वेद चेत् ॥ अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद। सन्तमेनं ततो विदुरिति। तस्यैष एव शारीर आत्मा॥ यः पूर्वस्य। अथातोऽनुप्रश्नाः-उताविद्वानमुं लोकं प्रेत्य। कश्चन

---

* देव इन्द्रिय हैं और विज्ञान बुद्धि है, बुद्धि इन्द्रियों से पहले उत्पन्न हुई है, इस लिये वह इन सब से बड़ी है ॥

गच्छती ३ आहो विद्वानमुं लोकं प्रेत्य। कश्चित् समश्नुता ३ उ।

सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा। इदꣳ सर्वमसृजत। यदिदं किञ्च। तत्सृष्ट्वा। तदेवानुप्राविशत्। तदनुप्रविश्य। सच्च त्यच्चाभवत्। निरुक्तं चानिरुक्तं च। निलयनं चानिलयनं च। विज्ञानं चाविज्ञानं च। सत्यं चानृतं च। सत्यमभवत्। यदिदं किंच। तत्सत्यमित्याचक्षते। तदप्येष श्लोको भवति ॥ ६ ॥

वह जो ब्रह्म को असत् (नहीं है) करके जानता है, वह स्वयं असत् होता है। 'है ब्रह्म' यदि वह ऐसा जानता है, तब लोग उसे सन्त (है) जानते हैं *। उस का यही शारीर आत्मा है, जो पहले का है। अब इससे आगे (इस पर) प्रश्न हैं–

* जो ब्रह्म को असत् जानता है, वह असत् के सम होता है जैसे असत् से पुरुष का अर्थ सिद्ध नहीं होता, ऐसे ही वह भी अपने परम पुरुषार्थ की सिद्धि से अलग रहता है, और जो उस को सत् जानते हैं, वही परमार्थ सत्ता वाले हैं॥

प्रश्न–क्या कोई ऐसा पुरुष भी जो ब्रह्म को नहीं जानता, मर कर उस लोक (आनन्दमय ब्रह्म) को जानता है? या क्या मरकर वह ही उस को भोगता है जो कोई विद्वान् है * ?

उत्तर—† उस ने चाहा, कि मैं बहुत हो जाऊं, मैं प्रजा

अथवा जो ब्रह्म को 'नहीं है' करके जानता है, वह वर्ण आश्रम आदि की व्यवस्था रूप जो सन्मार्ग है, उस में श्रद्धा नहीं रख सकता, क्योंकि यह मर्यादा ब्रह्म को प्राप्ति के लिए है। इस लिए ऐसा नास्तिक लोक में असन्त, असाधु, कहलाता है। और जो ब्रह्म को 'है' करके मानता है, वह उस की प्राप्ति के साधन वर्ण आश्रम आदि की व्यवस्था रूप सन्मार्ग में श्रद्धा रखता हुआ उस को यथार्थ जानता है, इस लिए उसे सन्त (साधु, मार्ग में ठहरा हुआ) कहते हैं (शंकराचार्य)

* ब्रह्म सब के लिये एक जैसा है, क्योंकि वह सब का ही आदि कारण है। ज्ञानी का भी कारण है, अज्ञानी का भी कारण है, तो फिर दोनों के लिये समता होनी चाहिये। यदि ज्ञानी मर उस को प्राप्त हो सकता है, अज्ञानी भी होना चाहिये, और यदि अज्ञानी हो नहीं सकता, तो ज्ञानी भी नहीं होना चाहिये, यह अभिप्राय है (शंकराचार्य, सुरेश्वराचार्य)॥

† ब्रह्म सारे भुवन में प्रविष्ट हो कर रूप रूप के प्रतिरूप हो कर अनेक शबल (अपर) रूप धारण किये हुए है (कठ० ५। ९)। पर यह सब कुछ प्रलय में एक रूप था। जैसे पिता चाहता है, कि एक से बहुत हो जाउं, मेरी सन्तति बढ़े, यह इच्छा उस के बहुत होने का बीज है। इसी प्रकार सृष्टि से

वाला होउं । उस ने तप तपा । तप तपने के पीछे उस ने इस सब को रचा, जो कुछ यह है । इस को रचकर के वह इसमें प्रविष्ट हुआ । इस में प्रवेश करके वह सत् (जो व्यक्त है) और त्यत् (जो कुछ छिपा हुआ है) हो गया, निरुक्त (जो दूसरों से अलग करके बतलाया जा सकता है) और अनिरुक्त (जो अलग नहीं किया जा सकता है) निलयन (दूसरों का आधार) और अनिलयन, (अनाधार) विज्ञान (चेतन) और अविज्ञान (अचेतन) सत्य और भूठ * यह (सब) सत्य (ब्रह्म) हो गया । जो कुछ यह है । उस को सत्य कहते हैं । इस पर यह श्लोक है ॥ ६ ॥

पहले ब्रह्म में यह बीजरूप इच्छा प्रकट हुई, कि मैं बहुत हो जाउं । और जैसे तपश्चर्या (ब्रह्मचर्य व्रतों) के पीछे पुरुष को सन्तानोत्पादन का अधिकार है । वैसे ब्रह्म ने भी पहले तप तपा, यह तप सृष्टि रचने का विचार था । फिर सृष्टि को रचा । और रच कर वह स्वयं इस में प्रविष्ट हुआ, इस प्रवेश से यह अभिप्राय है, कि उसने अलग हो कर उस को नहीं बनाया, किन्तु स्वयं अन्तरात्मा हो कर अपना शरीर जो प्रकृति है, उस को अनेक रूपों में बदला है । यह उस के सारे शबलरूप हैं, इसी लिए इस रीति पर कहा है, कि वह इस में प्रविष्ट हो कर सत् त्यत् हो गया, इत्यादि । इस को मिलाओ (छान्दो० उप० ६ । २ । १ से) ॥

* जो हमारे इन्द्रियों को सच्चा और भूठा प्रतीत होता है ।

व्याख्या—ब्रह्म जो इस स्थूल सूक्ष्म में अन्तरात्मा बन कर बैठा है, हमारे आत्मा में भी उस का आत्मा बन कर बैठा है, इस लिए बाह्य आभ्यन्तर सारा जगत् उस की महिमा दिखला रहा है । जहां हम बाहर उस की महिमा देखते हैं, वहां हमारे अन्दर भी उस की महिमा भरी है । सो यदि कोई पुरुष ऐसे अधिपति को 'नहीं है' करके जानता है, तो उस की अपनी हस्ती न होने के बराबर है । ब्रह्मज्ञानी पुरुष तो उसी की हस्ती को हस्ती जानते हैं, जो इस मनुष्य जन्म में आकर यूं ही नहीं चल देता, किन्तु सारे परदे उठा कर अन्तरात्मा के दर्शन कर जाता है । यही ब्रह्म सारे कोशों के भीतर छिपा हुआ है । जब विज्ञानमय कोश के अन्दर प्रवेश करोगे, तो इस का आनन्दमय शरीर तुम्हारे सामने आएगा, तब फिर जिधर देखोगे, तुम्हारे लिये प्रिय है, मोद है, प्रमोद है, आनन्द है । यहां वह आत्मा है, जो सब का आत्मा है । यह ब्रह्म है, यह आत्मा है, जो सारी रचना के अन्दर है, जिस का जानने वाला सारी कामनाओं को भोगता है ।

यहां तक पांचों कोशों की विवेचना की गई है । सब से पहला स्थूल देह अन्नमय कोश है । उस के अन्दर उस से सूक्ष्म २ चार कोश और हैं । इस प्रकार प्राणमय कोश के अन्दर तीन, मनोमय के अन्दर दो, और विज्ञानमय कोश के अन्दर एक और कोश है, वह सब से अन्तिम आनन्दमय कोश है । यहां उस आत्मा के साक्षात् दर्शन होते हैं, जो स्थूल सूक्ष्म सारे विश्व का अन्तरात्मा है ।

प्रश्न—यहां मनुष्यों के दो भेद किये हैं, एक ज्ञानी,

दूसरे अज्ञानी । यह भेद क्या इसी जगत् में समाप्त हो जाता है वा मरने के पीछे भी रहता है ? यह इस प्रकार पूछा गया है, कि क्या जब ज्ञानी मरता है, तो वह जिस तरह इस अन्नमय कोश को छोड़ देता है, उसी तरह इसके भीतरी कोशों को भी छोड़ता हुआ आनन्दमय कोश तक पहुंच जाता है वा नहीं? और यह यदि अन्नमय कोश को छोड़ कर भी दूसरे कोशों के भीतर प्रवेश नहीं करता, तो फिर क्या विद्वान् भी इस शरीर को छोड़ कर वैसा ही रहता है, वा उस लोक (आनन्दमय कोश) को भोगता है ।

इसका उत्तर आगे इस वल्ली की समाप्ति तक है, जिस का आशय यह है, कि ब्रह्म इस सारी सृष्टि को रच कर इस में स्वयं प्रविष्ट है । वह स्वयं आनन्दमय है, यहां जो सारे परदे उठा कर, अपने आत्मा में उसको देख लेता है, वही परलोक में उस को भोगता है, दूसरा नहीं ।

सातवां अनुवाक ॥ ७ ॥

असद्वा इदमग्र आसीत् । ततो वै सदजायत । तदात्मान ँ स्वयमकुरुत । तस्मात् तत् सुकृतमुच्यते इति ॥ यद्वैतत्सुकृतम् । रसो वै सः । रस ँ ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति । को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् । यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् ॥ एषह्येवानन्दयाति ॥

यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्ये ऽनात्म्ये ऽनिरुक्ते-ऽनिलयने ऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते। अथ सोऽभयं गतो भवति॥ यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते॥ अथ तस्य भयं भवति। तत्त्वेव भयं विदुषो मन्वानस्य। तदप्येष श्लोको भवति।७॥

आरम्भ में यह असत् * था, उस से सत् उत्पन्न हुआ। उसने स्वयं अपने आप को बनाया, इस लिये वह सुकृत † कहलाता है, यह जो सुकृत है, वह रस है ‡ क्योंकि रस को पाकर ही यह (पुरुष) आनन्द भोगता है। कौन जी सकता,

---

* असत्, अव्यक्त रूप वाला, यह जगत् जो अब नाम रूप से भेद किया जाता है, यह उत्पत्ति से पूर्व अव्यक्त नाम रूप वाला था, उससे सत् अर्थात् व्यक्त नाम रूप के भेद वाला यह विविध जगत् उत्पन्न हुआ। असत्=शुद्ध, सत्=शबल॥

† सुकृत=अच्छा बना। अथवा सुकृत=स्वकृत, अपना बना हुआ, वा आप बना हुआ; सुकृत=स्वयं बनाने वाला, पुण्य रूप चेतन ब्रह्म (शंकराचार्य)।

‡ रस है, सार है। यह निःसार जगत् उसी से सार वाला है। यह नीरस उसी से रस वाला है। जिस तरह रस आनन्द का हेतु है। उसी तरह ब्रह्म है। ब्रह्म ने स्वयं सब कुछ बनाया है वह सब के अन्दर रस रूप हो कर प्रविष्ट है, विद्वान् सब के अन्दर उस रस को भोगते हैं। और इसी लिये वह

कौन प्राण ले सकता, यदि यह आकाश * आनन्द न होता। यह ही आनन्द का हेतु है।

† जब वह-इस (हृदयस्थ ब्रह्म) में अभय प्रतिष्ठा (स्थिति) पा लेता है, जो (ब्रह्म) अदृश्य है, अशरीर है, अनिरुक्त है, और (किसी से) सहारा दिया हुआ नहीं है, तब वह अभय को पा लेता है । क्योंकि जब वह इस में एक थोड़ा सा भी भेद ‡ करता है, तब उसे भय होता है। पर यह भय केवल उस के लिये है, जो अपने आप को विद्वान् मान लेता है § (स्वयं धीरः पण्डितम्मन्यमानः, न कि सच्चे विद्वान् के लिये)। इस पर भी यह श्लोक है ॥ ७ ॥

बिना किसी बाह्य रस के उसी रस को पाकर तृप्त दीखते हैं। देखो कौषी० उप० १।५

* अथवा आकाश में=हृदयाकाश में, आनन्द (ब्रह्म) न हो ॥

† यहां तक ब्रह्म का आस्तित्व दिखला कर, विद्वान् ही उस को प्राप्त होता है, अविद्वान् नहीं इस के समर्थन के लिये अगला ग्रन्थ है।

‡ उत्+अरम्=उदरम्. उत्=भी, अरम्=छिद्र, भेद। यह अर्थ शंकराचार्य के अनुसार दिया गया है। पर उत्=अपि और अरम्=छिद्रम् के अर्थ में प्रयुक्त है यह संदिग्ध है।

§ 'विदुषोऽमन्वानस्य' यहां अमन्वानस्य छेद करके शंकराचार्य ने यह अर्थ किया है, जो भेद को जानता है और अभेद को नहीं मानता है । शंकरानन्द ने लिखा है, कि जो कर्म-विद्या को जानता है पर ब्रह्म को मनन नहीं किया है।

आठवां अनुवाक ॥ ८ ॥

भीषाऽस्माद् वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः। भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च। मृत्युर्धावति पञ्चम इति। सैषाऽऽनन्दस्य मीमा ँ सा भवति। युवा स्यात् साधु युवाऽध्यायकः। आशिष्ठो दृढिष्ठोबलिष्ठः। तस्येयंपृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्॥ स एको मानुष आनन्दः। ते ये शतं मानुषा आनन्दाः (१)। स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं मनुष्यगन्धर्वाणा मानन्दाः। स एको देवगन्धर्वाणा मानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं देवगन्धर्वाणामानन्दाः। स एकः पितॄणां चिरलोकलोकानामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं पितॄणां चिरलोकलोकानामानन्दाः। स एक आनजानजानां देवाना मानन्दः (२)

श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शत माजानजानां देवानामानन्दाः । स एकः कर्मदेवानां देवाना मानन्दः । ये कर्मणा देवानपियन्ति । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं कर्मदेवानां देवानामानन्दाः । स एको देवानामानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं देवानामानन्दाः । स एक इन्द्रस्यानन्दः (३) श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतमिन्द्रस्यऽऽनन्दाः । स एको बृहस्पतेरानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं बृहस्पतेरानन्दाः । स एकः प्रजापतेरानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः । स एको ब्रह्मण आनन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य (४) ॥

स यश्चायं पुरुषे । यश्चासावादित्ये । स एकः । स य एवंवित् । अस्माल्लोकात्प्रेत्य । एतमन्न-

मयमात्मानमुपसंक्रामति । एतं प्राणमय मात्मान मुपसंक्रामति । एतं मनोमयमात्मान मुपसंक्रामति । एतं विज्ञानमय मात्मान मुपसंक्रामति । एतमानन्दमयमात्मान मुपसंक्रामति॥ तदप्येष श्लोको भवति ॥ ८ ॥

'इस (ब्रह्म) के भय से वायु चलता है, भय से सूर्य उदय होता है; इस के भय से अग्नि और इन्द्र, और पांचवां मृत्यु दौड़ता है'। (देखो कठ० उप० ६ । ३)

अब यह आनन्द का विचार (आरम्भ होता) है—

मनुष्य जो युवा हो, पर साधु युवा (नेक युवक) हो और (वेद) पढ़ा हुआ हो। बड़ा फुर्तीला, बड़ा दृढ़ और बड़ा बलवान् हो। यह सारी पृथिवी धन की भरी हुई उसकी हो। वह एक मानुष आनन्द (को चोटी) है। अब जो सौ मानुष आनन्द हों. वह एक मनुष्य गन्धर्वों का आनन्द है, और उस का, जो वेद को जानता है और कामहत (कामनाओं से दबा हुआ) नहीं है।

मनुष्य गन्धर्वों के जो सौ आनन्द हैं, वह एक देवगन्धर्वों का आनन्द है, और उसका है, जो श्रोत्रिय हैं और कामहत नहीं है॥

वह देवगन्धर्वों के जो सौ आनन्द हैं, वह एक पितरों का आनन्द है, जो चिरलोकलोक हैं (दीर्घकाल तक अपनी

नेक कमाई के आनन्द भोगते हैं) और उसका है, जो श्रोत्रिय है और कामहत नहीं है ॥

चिरलोकलोक पितरों के जो सौ आनन्द हैं, वह एक आजानज देवताओं का आनन्द है, और उसका है, जो श्रोत्रिय है और कामहत नहीं है ।

आजानज देवताओं के जो सौ आनन्द हैं, वह एक कर्मदेव देवताओं का आनन्द हैं, जो (वैदिक) कर्म से देवताओं में मिलते हैं, और उसका है, जो श्रोत्रिय है, और कामहत नहीं है ।

कर्म देवताओं के जो सौ आनन्द हैं, वह एक देवों का आनन्द है, और उसका है, जो श्रोत्रिय है, और कामहत नहीं है ।

देवताओं के जो सौ आनन्द हैं, वह इन्द्र का एक आनन्द है । और उसका है, जो श्रोत्रिय है और कामहत नहीं है ।

इन्द्र के जो सौ आनन्द हैं, वह बृहस्पति का एक आनन्द है, और उसका है, जो श्रोत्रिय है, और कामहत नहीं हैं ।

बृहस्पति के जो सौ आनन्द हैं, वह प्रजापति का एक आनन्द है । और उसका है, जा श्रोत्रिय है और कामहत नहीं है ।

प्रजापति के जो सौ आनन्द हैं, वह ब्रह्मा का एक आनन्द है । और उसका है, जो श्रोत्रिय है और कामहत नहीं है * ॥

---

* यहां आनन्द के बहुत से दर्जे दिये गए हैं । और वह आनन्द क्रमशः जिनमें बढ़ता गया है, वे ये हैं, । मनुष्यगन्धर्व देवगन्धर्व, पितर, आजानज देव, कर्मदेव, देव, इन्द्र, बृहस्पति,

जो यह (ब्रह्म) है पुरुष में, और जो वह (ब्रह्म) है सूर्य में, वह एक है ।

प्रजापति, ब्रह्मा । यह विषय लगभग ऐसा ही शतपथ ब्राह्मण १४ । ७ । १ । ३१ में और काण्व शाखा के बृहदारण्यक उपनिषद् ४ । ३ । ३२ में भी पाया जाता है । आनन्द की पराकाष्ठा ब्रह्मलोक में है, और सब जीव इसी आनन्द का एक छोटा सा हिस्सा उपभोग करते हैं 'एतस्यैवाऽऽनन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' (बृह० आ० उप० ४ । ३ । ३२)॥

यहां तैत्तिरीय में पहले मनुष्य हैं, पीछे मनुष्य गन्धर्व, फिर देव गन्धर्व, और फिर पितर आए हैं । माध्यन्दिन शतपथ आर बृह० आर० उप० में पहले मनुष्य और उसके पीछे पितर हैं । मनुष्यगन्धर्व और देवगन्धर्वों का वहां वर्णन नहीं । फिर पितरों का विशेषण यहां चिरलोकलोक है, वहां जितलोक है । यहां वह आनन्द जो अकामहत श्रोत्रिय से उपभोग किया जाता है, उसकी समता मनुष्यगन्धर्वों से आरम्भ करके समाप्ति तक दिखलाई है । और वहां पहले पहल आजानदेवों के साथ अकामहत श्रोत्रिय आया है । यहां गन्धर्व पहले और पितर पीछे हैं, वहां पितर पहले और गन्धर्व पीछे हैं ॥

हम नीचे तीनों के पाठ को आमने सामने रख कर सारे भेद स्पष्ट दिखला देते हैं—

तैत्ति० उ०	शतप० ब्रा०	बृह० आर० उप०
मनुष्य	मनुष्य	मनुष्य

जो इसको जानता है, वह जब इस लोक से चलता है, तो वह इस अन्नमय आत्मा को पहुंचता है, इस प्राणमय आत्मा

मनुष्य गन्धर्व (और श्रोत्रिय)	—	—
देवगन्धर्व	—	—
पितर (चिरलोकलोक)	पिनर (जितलोक)	पितर (जितलोक)
|	—	गन्धर्व
आजानज देव	कर्मदेव	कर्मदेव
कर्मदेव	आजानदेव (और श्रोत्रिय)	आजानदेव (और श्रोत्रिय)
देव	देव	—
इन्द्र	गन्धर्व	—
बृहस्पति	—	—
प्रजापति	प्रजापति	प्रजापति
ब्रह्मा	ब्रह्मा	ब्रह्मा

यहां जो गन्धर्वों का आनन्द, प्रजापति का आनन्द और ब्रह्मा का आनन्द कहा है। बृहदारण्यक में इसकी जगह गन्धर्वलोक में आनन्द, प्रजापतिलोक में आनन्द और ब्रह्मलोक में आनन्द कहा है। यह मनुष्य से ऊंचे मनुष्यगन्धर्व आदि कौन हैं ? और उनके लोक कौन हैं ? इसका निर्णय करने वाले हमारे पास पुष्कल प्रमाण नहीं हैं। प्राचीन व्याख्याओं में भी यह बात पूरी हल की हुई नहीं है। स्वामी शंकराचार्य ने जो लिखा है, वह यह है मनुष्य गन्धर्व वह हैं, जो पहले मनुष्य होकर कर्म और उपासना के सामर्थ्य से गन्धर्व हुए हैं। उनमें अन्तर्धान हो जाना पास होकर भी दूसरों की दृष्टि से

को पहुंचता है, इस मनोमय आत्मा को पहुंचता है, इस विज्ञानमय आत्मा को पहुंचता है, इस अनन्दमय आत्मा को पहुंचता है।

छिप जाना इत्यादि शक्तियें हैं। उनके शरीर और इन्द्रिय सूक्ष्म हैं। इसी लिये वह आसानी से जा आ सकते हैं और जान सकते हैं—और जो कुछ अपने प्रतिकूल हो, उसको वह आसानी से हटा सकते हैं। अपनी रुचि के पूरा करने में रुकावट होनी, और प्रतिकूल का प्रतीकार न सूझना, यही दो बातें चित्त को गंदला रखती हैं। मनुष्य गन्धर्वों में यह त्रुटि मनुष्यों की अपेक्षा बहुत ही कम होती है, इस लिए उनका चित्त अधिक प्रसन्न (निर्मल) रहता है और चित्त जितना निर्मल अधिक हो, उतना ही अधिक सुख अभिव्यक्त होता है। इसी प्रकार पहली २ भूमि से अगली २ भूमि अधिक निर्मल होने से सौ २ गुना अधिक आनन्द बढ़ता जाता है। देवगन्धर्व वे हैं, जो जन्म से गन्धर्व हैं। पितरों का विशेषण चिरलोकलोक इस लिये है, कि वह पितृलोक में चिरकाल तक रहते हैं, यद्यपि वह उस लोक में सर्वदा नहीं रहते। अजानजदेव वह हैं, जो नेक बर्ताव से देव स्थानों में उत्पन्न हुए हैं। आजान=देवलोक, उसमें उत्पन्न हुए=आजानज। कर्मदेव वह हैं, जो केवल वैदिक कर्म अग्नि होत्र आदि से देवता बने हैं। देव ३३ हैं, जिनके लिये हवि दी जाती है। इन्द्र उनका स्वामी है। बृहस्पति इन्द्र का पुरोहित है। प्रजापति=विराट् और ब्रह्मा=हिरण्यगर्भ। शंकरानन्द ने मनुष्यगन्धर्वों के विषय में 'अन्तरिक्ष में रहने वाले' अधिक लिखा है। द्विवेदगङ्ग ने शतपथ

इस परभी यह श्लोक है ॥ ८ ॥

यतो वाचो निवर्तन्ते । अप्राप्य मनसा सह । आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् । न बिभेति कुतश्च-नेति । एतं ह वाव न तपति । किमहꣳसाधु नाकरवम् । किमहं पापमकरवमिति । स य एवं विद्वानेते आत्मानꣳस्पृणुते । उभे ह्येवैष एते आत्मानꣳस्पृणुते । य एवं वेद । इत्युप-निषत् ।

वह जो ब्रह्म के उस आनन्द को जानता है, जहां से मन समेत वाणियें विन पहुंचे लौट आती हैं, वह किसी से नहीं डरता है ।

ब्राह्मण में इस प्रकार लिखा है । पितर वह हैं, जिन्हों ने दक्षिण मार्ग से पितृलोक को जीता है । जो अपने जीवितकाल में पितृ-यज्ञों को पूरा करते रहे हैं । कर्मदेव वह हैं, जो श्रौत कर्मों के अनुष्ठान से देवता बने हैं । आजानदेव वह हैं, जो जन्म से ही देवता हैं न कि मनुष्यों से देवता बने हैं, प्रजापति विराट् है । और ब्रह्मा हिरण्यगर्भ है । शंकराचार्य ने बृहदारण्यक में भी ऐसी ही व्याख्या की है । वहां आजानदेवों के विषय में यह लिखा है, 'आजानतः, उत्पत्तितः' अर्थात् जो जन्म से देवता हैं, वह आजानदेव हैं ॥

* इसको यह ख्याल नहीं तपाता है, कि क्या मैंने नेक काम न किया ? और क्या मैंने पाप किया ? वह जो इस प्रकार इन दोनों (पुण्य और पाप) को जानता है, † वह अपने आप को बलवान् बनाता है। क्योंकि यह इन दोनों से आत्मा को बलवान् बनाता है, जो इस प्रकार (ब्रह्म को) जानता है। यह उपनिषद् (परमरहस्य दिखला दिया) है। ६।

---

* मरणकाल में यह दोनों भय जो मनुष्य के सामने आते हैं, कि हा कष्ट मैंने यूंही जन्म खोदिया। कुछ भी पुण्य सञ्चय न किया, जिस का सञ्चय करना इस से पहले मेरे हाथ में था। और शोक मैंने पाप कर्म कमाए, जिन को, अब जब कि और सब कुछ यहीं छोड़ कर चला हूं, साथ लिये जाता हूं। यह दोनों भय उस के लिये नहीं रहते, जो यहां ब्रह्म के आनन्द को अनुभव कर लेता है। वह पाप पुण्य दोनों से ऊंचा होजाता है। जो भावना कर्मों को पुण्य और पाप बनाती है, यह उस से ऊपर होगया है। उस के जिन कर्मों को हम पुण्य समझते हैं, वह स्वाभाविक होते हैं, न कि पुण्य की भावना से, और पाप कर्म को तो वह उसी समय दूर हटा चुका है, जब वह ब्रह्म प्राप्ति के यत्न में था, क्योंकि 'नाविरतो दुश्चरितात्' वह उस को नहीं जानता, जो दुश्चरित से नहीं हटा है। इस लिये ब्रह्मज्ञानी के विषय में बल देकर कहा है 'न बिभेतिकुतश्चन'।

† 'सयः' से 'स्पृणुते' तक इन दोनों वाक्यों का अर्थ स्पष्ट नहीं है।

* ब्रह्मविद्, इदं, अयं, इदं, एकविंशतिः (१) अन्नात् । अन्नरसमयात्, प्राणः, व्यानः अपानः, आकाशः, पृथिवी पुच्छं, षड्विंशतिः (२) प्राणं, यजुः, ऋक्, साम,

* यह समाप्ति में ब्रह्मवल्ली के अनुवाक और उन के वाक्यों की गणना की है। १, २ आदि अंक पहला दूसरा आदि अनुवाक दिखलाने के लिये दिया हैं। पहला अनुवाक 'ब्रह्मविद्' से आरम्भ होता है, इस लिये यहां पहले लिखा है 'ब्रह्मवित्'। इस अनुवाक में २१ वाक्य हैं, इस लिये अन्त में लिखा है 'एक विंशतिः' और 'इदं, अयं, इदं' इस का तात्पर्य यह है, कि इस अनुवाक में अन्नमय कोश का जो वर्णन है, उस के ये प्रधान अवयव हैं। जैसे वहां का पाठ है 'इदमेव शिरः। अयं दक्षिणः पक्षः। अयमुत्तर : पक्षः। अयमात्मा। इदं पुच्छं प्रतिष्ठा' यहां पहले 'इदम्' है, फिर तीन बार 'अयम्' फिर 'इदम्' ये पांचों अंग हैं। इसी प्रकार 'अन्नात्' इस से दूसरे अनुवाक का आरम्भ है। 'अन्नरसमययात्' दूसरे (प्राणमय) कोश का आरम्भ है। प्राण, व्यान अपान, आकाश, पृथिवी, ये पांचों अंग हैं। २६ (षड्विंशतिः) इस में वाक्य हैं। इसी तरह (५) तक जानना चाहिये। द्वाविंशति=२२, अष्टादश=१८। 'असन्नेव' यह छटे का अरम्भ वाक्य है, २८ वाक्य हैं । सातवें का आरम्भ वाक्य 'असत्' वाक्य १६। आठवें का 'भीषऽस्मात्' आरम्भ वाक्य है, इस अनुवाक में विशेष बात 'मानुषः' से आरम्भ करके 'ब्रह्मणः' तक आनन्द के दर्जे दिखलाए हैं। 'सयश्च' से उस आनन्द की लोक परलोक में एकता दिखला कर 'संक्रामति' से परलोक में ज्ञानी के लिये उस की प्राप्ति दिखलाई है। इस में वाक्य ५१

आदेशः, अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं, द्वाविꣳशतिः (३) यतः, श्रद्धा, ऋतꣳ, सत्यं, योगः, महः, अष्टादश (४) विज्ञानं, प्रियं, मोदः प्रमोदः आनन्दः, ब्रह्मपुच्छं, द्वाविꣳशतिः (५) असन्नेव, अष्टाविꣳशतिः (६) असत्, षोडश (७) भीषाऽस्मात्, मानुषः मनुष्यगन्धर्वाणां, देवगन्धर्वाणां, पितॄणां चिरलोक-लोकानां, आजानजानां देवानां, कर्मदेवानां, इन्द्रस्य, बृहस्पतेः, प्रजापतेः, ब्रह्मणः, स यश्च, सङ्क्रामति, एकपञ्चाशत् (८) यतः कुतश्चन, एकादश (९)

ब्रह्मवित्, य एवंवेद, इत्युपनिषत् ॥

* सहनाववतु । सह नौ भुनक्तु । सहवीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु । माविद्विषावहै । ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

† भृगुवल्ली (३) पहला अनुवाक ॥ १ ॥

ओ३म् । सहनाववतु । सहनौ भुनक्तु । सह-

हैं । 'यतः' नवें का आरम्भ वाक्य है । 'कुतश्चन' पर जोर दिया है । वाक्य ११ हैं ।

'ब्रह्मविद्' ब्रह्मवल्ली का आरम्भ वाक्य है ' य एवं वेद । इत्युपनिषत्' समाप्ति वाक्य है !

* यह वल्ली की समाप्ति का शान्ति पाठ है, जो आरम्भ में भी आया है और भृगुवल्ली के आरम्भ और समाप्ति में भी है । कठ की समाप्ति में भी आया है । और भी कई जगह प्रयुक्त हुआ है । अर्थ इस वल्ली के आरम्भ और कठ की समाप्ति में दे आए हैं ।

† ब्रह्मविद्या कह दी है, उस की प्राप्ति के उपाय पञ्च

वीर्यं करवावहै । तेजस्विनावधीतमस्तु । माविद्विषावहै । ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

(यह फिर वल्ली के आरम्भ का शान्तिपाठ है) ।

भृगुर्वै वारुणिः । वरुणं पितरमुपससार । अधीहि भगवो ब्रह्मेति । तस्मा एतत्प्रोवाच । अन्नं प्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनो वाचमिति । तँ होवाच । यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । तद्विजिज्ञासस्व । तद् ब्रह्मेति । स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा ॥ १ ॥

कोश बतलाए हैं । अब इन पाचों कोशों में क्रमशः प्रवेश कराने वाला साधन तप बतलाते हैं । और ब्रह्म के जिज्ञासु को श्रद्धा भक्ति पूर्वक गुरु की शरण लेनी चाहिये । तब वह गुरु के बतलाए मार्ग पर चलता हुआ उत्तरोत्तर भूमि में प्रवेश करता हुआ ब्रह्मानन्द को पा लेगा, यह भृगु के इतिहास से दिखलाते हैं । अन्त में कई एक व्रत और उपासना दिखला कर ब्रह्मज्ञानी की कृतकृत्यता दिखला कर उपनिषद् को समाप्त किया है ॥

वरुण का पुत्र भृगु अपने पिता वरुण के पास गया, (और-कहा) 'भगवन्! मुझे ब्रह्म बतलाएं' उसने उस को यह कहा-'अन्न, प्राण, नेत्र, श्रोत्र, मन, वाणी' * ।

और उस को फिर कहा-'जिस से भूत (जन्तु) उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न हो कर जिस से जीते हैं, और मरते हुए जिस में प्रवेश करते हैं, उस को जानने की इच्छा (प्रयत्न) कर, वह ब्रह्म है'। उसने तप तपा, † और तप तप कर-॥ १ ॥

---

* अभिप्राय यह है, कि, ब्रह्म, जिसका आगे (जिससे ये भूत उत्पन्न होते हैं इत्यादि) लक्षण किया है. उसको अन्न आदि के द्वारा जान। जैसा कि अन्यत्र कहा है 'प्राणस्य प्राण मुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रमन्नस्यान्नं मनसो ये मनो विदुस्ते निचिक्युर्ब्रह्मपुराणमग्रयम्' वे जो प्राण के प्राण, नेत्र के नेत्र, श्रोत्र के श्रोत्र, अन्न के अन्न, और मनके मन को जानते हैं, वह पुराने सब से श्रेष्ठ ब्रह्म को जानते हैं । इस से यह दिखलाया है कि अन्न, प्राण, नेत्र, श्रोत्र, मन, वाणी, ये ब्रह्म की उपलब्धि में द्वार हैं (शंकराचार्य)

†पिता ने भृगु को ब्रह्म का लक्षण बतला दिया, और उस के ज्ञान के द्वार (अन्न प्राण आदि) बतला दिये । पर अभी उसके प्रश्न का उत्तर पूरा नहीं हुआ, तथापि वरुण ने इस के आगे कुछ नहीं कहा। योग्य शिष्य ने पिता के अभिप्राय को पाया । और उसने इस लक्षण वाले को ढूंढने के लिये तप तपा। तप तपने के पीछे जो उस लक्षणवाला पहले पहल उसे प्रतीत हुआ, वह आगे दिखलाते हैं। तप से अभिप्राय धर्मपरायण होकर अन्तःकरण को शुद्ध प्रदीप्त बनाने से है।

दूसरा अनुवाक ॥ २ ॥

अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात् । अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । अन्नेन जातानि जीवन्ति । अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तद्विज्ञाय । पुनरेव वरुणं पितरमुपससार । अधीहि भगवो ब्रह्मेति । तꣳहोवाच । तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व । तपो ब्रह्मेति । स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा ॥ २ ॥

उसने अन्न * को ब्रह्म जाना, क्योंकि अन्न से ये भूत उत्पन्न होते हैं; उत्पन्न होकर अन्न से बढ़ते हैं, और मरते हुए अन्न में प्रवेश करते हैं ।

यह जानकर, वह फिर अपने पिता वरुण के पास गया और कहा 'भगवन् ! मुझे ब्रह्म बतलाएं' । उसने उसे कहा 'तप से ब्रह्म को जानने की इच्छा कर, क्योंकि तप ब्रह्म है' † उसने तप तपा, और तप तप कर— । २ ।

---

* पूर्व जिस क्रम से अन्नमयादि कोश बतलाए हैं, उसी क्रम से भृगु का प्रवेश इन कोशों में हुआ है । जब तक वह आनन्दमय कोश तक नहीं पहुंचा, उस का संशय नहीं मिटा । इस लिये वह जानकर भी वार २ पिता के पास आया है ।

अन्न=विराट्, क्योंकि इस में लक्षण घट सकता है, (आनन्दगिरि)

† ब्रह्म की प्राप्ति का पूर्ण साधन है ॥

तीसरा अनुवाक ॥ ३ ॥

प्राणो ब्रह्मेति व्यजनात् । प्राणाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । प्राणेन जातानि जीवन्ति । प्राणं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तद्विज्ञाय । पुनरेव वरुणं पितरमुपससार । अधीहि भगवो ब्रह्मेति । त ँ होवाच । तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व । तपो ब्रह्मेति । स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा ॥ ३ ॥

उसने प्राण * को ब्रह्म जाना । क्योंकि प्राण से सब भूत उत्पन्न होते हैं; उत्पन्न होकर प्राण से जीते हैं; और मरते हुए प्राण में प्रवेश करते हैं ।

यह जान वह फिर अपने पिता वरुण के पास आया 'भगवन् ! मुझे ब्रह्म बतलाएं,' उसको उसने कहा 'तप से ब्रह्म को जानने की इच्छा कर, क्योंकि तप ब्रह्म है'।

उसने तप तपा, और तप तप कर—॥ ३ ॥

मनो ब्रह्मेति व्यजात् । मनसा ह्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । मनसा जातानि जीवन्ति । मनः प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तद्वि-

* वा जीवन, देखो बृह० आर० उप० ४ । १ । ३

ज्ञाय । पुनरेव वरुणं पितरमुपससार । अधीहि भगवो ब्रह्मेति । त ँ होवाच । तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व । तपो ब्रह्मेति । स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा ॥ ४ ॥

उसने मनको ब्रह्म जाना । क्योंकि मनसे ही सब भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर मनसे ही जीते हैं, और मरते हुए मन में ही लीन होते है ।

यह जान वह फिर अपने पिता वरुण के पास आया 'भगवन् मुझे ब्रह्म बतलाएं' उसको उसने कहा 'तप से ब्रह्म को जानने की इच्छा कर, क्योंकि तप ब्रह्म है'

उसने तप तपा, और तप तप कर ॥ ४ ॥

पांचवां अनुवाक ॥ ५ ॥

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात् । विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । विज्ञानेन जातानि जीवन्ति । विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तद्विज्ञाय । पुनरेव वरुणं पितरमुपससार । अधीहि भगवो ब्रह्मेति । त ँ होवाच । तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व । तपो ब्रह्मेति । स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा ॥ ५ ॥

उसने विज्ञान को ब्रह्म जाना, क्योंकि विज्ञान से ही सब भूत उत्पन्न होते हैं; उत्पन्न होकर विज्ञान से जीते हैं; और मरते हुए विज्ञान में प्रवेश करते हैं।

यह जान कर वह फिर अपने पिता वरुण के पास आया 'भगवन्! मुझे ब्रह्म बतलाएं' उसको उसने कहा 'तप से ब्रह्म को जानने की इच्छा कर, क्योंकि तप ब्रह्म है'।

उसने तप तपा, और तप तप कर ॥ ५ ॥

छटा अनुवाक ॥ ६ ॥

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति।

सैषा भार्गवी वारुणी विद्या परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता। स य एवं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान् कीर्त्या। ६।

उसने आनन्द को ब्रह्म जाना, क्योंकि आनन्द से ही ये सब भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर आनन्द से जीते हैं, और मरते हुए आनन्द में प्रवेश करते हैं।

यह है भृगु की और वरुण की विद्या *, परम आकाश में (हृदय में) प्रतिष्ठा वाली † जो इस प्रकार‡ जानता है, प्रतिष्ठा वाला होता है। प्रभूत अन्न वाला और अन्न का खाने वाला (स्वस्थ नीरोग) होता है। और महान् होता है, प्रजा (सन्तति) से, पशुओं से और ब्रह्मवर्चस से, और महान् कीर्ति से ॥ ६ ॥

॥ सातवां अनुवाक ॥ ७ ॥

अन्नं न निन्द्यात् । तद् व्रतम् । प्राणो वा अन्नम् । शरीरमन्नादम् । प्राणे शरीरं प्रतिष्ठितम् । शरीरे प्राणः प्रतिष्ठितः । तदेतदन्न-

---

* जो वरुण ने सिखलाई और उस के पुत्र भृगु ने सीखी है।

† जो विद्या अन्नमय से प्रवृत्त होकर हृदयाकाश की गुफा में जो परम आनन्द है, उसमें पहुंच कर ठहरी है, समाप्त हुई है।

‡ और भी जो कोई इस विद्या को तप के ही साधन से और इसी क्रम से अन्दर अन्दर प्रवेश करता हुआ, आनन्द ब्रह्म को जान लेता है, वह उस परम आनन्द में जा ठहरता है। और यह उसको लौकिक फल होता है, कि उसके पास प्रभूत अन्न होता है, और नीरोग रह कर उस को भोगता है। इत्यादि ॥

मन्ने प्रतिष्ठितम् । स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति । अन्नवानन्नादो भवति । महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन । महान् कीर्त्या ॥ ७ ॥

अन्न की कभी निन्दा न करे, यह व्रत है ॥

प्राण अन्न * है, शरीर अन्न का खाने वाला है । शरीर प्राण के सहारे है, और प्राण शरीर के सहारे है। वह जो यह जानता है, कि अन्न, अन्न पर ठहरा हुआ (अन्न के सहारे) है †, वह प्रतिष्ठा वाला होता है, प्रभूत अन्न वाला और अन्न का खाने वाला (नीरोग) होता है । महान् होता है, प्रजा (सन्तति) से, पशुओं से, ब्रह्मवर्चस से, महान् कीर्ति से ॥

आठवां अनुवाक ॥ ८ ॥

अन्नं न परिचक्षीत । तद्व्रतम् । आपो

---

* क्योंकि शरीर में अन्न की तरह रहता है ।

† अन्न और प्राण एक दूसरे के सहारे हैं । इस का सारांश यह है, कि इसलोक में एक हस्ती दूसरी हस्ती पर निर्भर रखती है । एक अन्न है, दूसरा अन्नाद (खाने वाला) है । जो अन्न है, वह भी अन्नाद है, और जो अन्नाद है, वह भी अन्न है। प्राण शरीर में अन्न की तरह रहता है। प्राण अन्न है और शरीर अन्नाद है । और शरीर प्राण के सहारे है, इस प्रकार शरीर अन्न है और प्राण अन्नाद है ।

वा अन्नम् । ज्योतिरन्नादम् । अप्सु ज्योतिः प्रतिष्ठितम् । ज्योतिष्यापः प्रतिष्ठिताः । तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम् । स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतिष्ठिति । अन्नवानन्नादो भवति । महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन । महान् कीर्त्या ॥ ८ ॥

अन्न को परे न हटाए (अनादर न करे) यह व्रत है ।

जल अन्न है, ज्योति अन्नाद (अन्न का खाने वाला) है । ज्योति जल के सहारे है, और जल ज्योति के सहारे है । इस प्रकार यह अन्न अन्न के सहारे है (जल और ज्योति एक दूसरे पर सहारा रखते हैं) । जो जानता है, कि यह अन्न अन्न के सहारे पर है. वह प्रतिष्ठित होता है, प्रभूत अन्न वाला और अन्न का खाने वाला (नीरोग) होता है । महान् होता है, प्रजा से पशुओं से, और ब्रह्मवर्चस से. महान् कीर्ति से ॥८॥

नवां अनुवाक ॥ ९ ॥

अन्नं बहु कुर्वीत । तद्व्रतम् । पृथिवी वा अन्नम् । आकाशोऽन्नादः । पृथिव्यामाकाशः प्रतिष्ठितः । आकाशे पृथिवी प्रतिष्ठिता । तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम् । स य

एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान् कीर्त्या ॥ ९ ॥

अन्न को बहुत सम्पादन करे, यह व्रत है॥

पृथिवी अन्न है, आकाश अन्नाद (अन्न का खाने वाला) है। आकाश पृथिवी पर (वा, में) ठहरा हुआ है, पृथिवी आकाश पर (वा, में) ठहरी हुई है। इस प्रकार यह अन्न अन्न पर ठहरा हुआ है जो जानता है, कि यह अन्न अन्न पर ठहरा हुआ है, वह प्रतिष्ठित होता है, प्रभूत अन्न वाला और अन्न का खाने वाला होता है। महान् होता है, प्रजा से, पशुओं से, ब्रह्मवर्चस से, और महान् कीर्ति से ॥ ९ ॥

दसवां अनुवाक ॥ १० ॥

न कंचन वसतौ प्रत्याचक्षीत। तद्व्रतम्। तस्माद् यया कया च विधया बह्वन्नं प्राप्नुयात्। आराध्यस्मा अन्न मित्याचक्षते। एतद्वै मुखतोऽन्नꣳराद्धम्। मुखतोऽस्मा अन्नꣳराध्यते। एतद्वै मध्यतोऽन्नꣳराद्धम्। मध्यतोऽस्माअन्नꣳराध्यते। एतद्वा अन्ततोऽन्नꣳरा-

द्धम् । अन्ततोऽस्मा अन्नꣳराध्यते (१) । य एवं वेद ॥

क्षेम इति वाचि । योगक्षेम इति प्राणापानयोः । कर्मेति हस्तयोः । गतिरिति पादयोः । विमुक्तिरिति पायौ । इति मानुषीः समाज्ञाः । अथ दैवीः । तृप्तिरिति वृष्टौ । बलमिति विद्युति (२) । यश इति पशुषु । ज्योतिरिति नक्षत्रेषु । प्रजातिरमृतमानन्द इत्युपस्थे । सर्वमित्याकाशे ।

तत् प्रतिष्ठेत्युपासीत । प्रतिष्ठावान् भवति । तन्मह इत्युपासीत । महान् भवति । तन्मन इत्युपासीत । मानवान् भवति (३) तन्नम इत्युपासीत । नम्यन्तेऽस्मै कामाः । तद्ब्रह्मेत्युपासीत । ब्रह्मवान् भवति । तद् ब्रह्मणः परिमर इत्युपासीत । पर्येणं म्रियन्ते द्विषन्तः सपत्नाः । परि येऽप्रिया भ्रातृव्याः ।

स यश्चायं पुरुषे । यश्चासावादित्ये । स एकः

(४)। स य एवंवित्। अस्माल्लोकात्प्रेत्य। एतमन्नमयमात्मान मुपसंक्रम्य। एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्य। इमांल्लोकान् कामान्नी कामरूप्यनुसंचरन्। एतत् सामगायन्नास्ते।

हा ३ वुहा ३ वु हा ३ वु (५) अहमन्न महमन्नं महमन्नम्। अहमन्नादो ऽ३हमन्नादोऽ३हमन्नादः। अहꣳश्लोककृदहꣳश्लोककृदहꣳश्लोककृत्। अहमस्मि प्रथमजा ऋता३स्य। पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य ना ३ भायि। यो मा ददाति स इदेव मा३ऽऽवाः। अहमन्नमन्नमदन्तमा३द्मि। अहंविश्वं भुवनमभ्यभवा३म्। सुवर्नज्योतिः। य एवं वेद। इत्युपनिषत् (६)।१०

कभी किसी (अतिथि) को अपने घर से वापिस न फेरे, यह व्रत है। इस लिये पुरुष को चाहिये, कि जिस किसी विध से बहुत अन्न प्राप्त करे, क्योंकि (भले–) लोग इस के लिये (अतिथि के लिये) अन्न तय्यार है यही कहते हैं ('न' कभी नहीं करते)। यदि वह (दाता) मुख्यता से (आदर मान से) अन्न तय्यार करता है (देता है, अतिथि के लिये), तो मुख्यता (आदर मान) से इस (देने वाले) के लिये अन्न तय्यार होता है, यदि वह साधारणता से इस के लिये अन्न तय्यार करता है, तो साधारणता से इस के लिये अन्न तय्यार होता है, यदि वह निकृष्टता से अन्न देता है तो निकृष्टता से इसके लिये अन्न तय्यार होता है। जो इस प्रकार जानता है। (=जैसा दिया वैसा ही मिलता है। इस लिये सदा आदर मान से देना चाहिये)।

* रक्षारूप से वाणी में, प्राप्ति और रक्षा के रूप से प्राण और अपान में, कर्मरूप से हाथों में, गतिरूप से पाओं में,

---

* यह ब्रह्म की पहचान और उपासना हैं। उपनिषदों की भूमिका में उपनिषदों का यह सिद्धान्त हम स्थिर कर आए हैं, कि जिस किसी पदार्थ में जो २ शक्ति प्रकाशती है, वह सब ब्रह्म की महिमा को बोधन करती है, क्योंकि उसके बिना न आग जल सकती है, न आंख देख सकती है। इस लिये आग में जलाना और आंख में देखना यह ब्रह्म की पहचान है ' क्वप्रेप्सन्दीप्यत ऊर्ध्वोअग्निः' कहां पहुंचना चाहता हुआ अग्नि ऊपर को चमकता है। (अथर्व १०।७।४) इसी आशय से यहां ये पहचानें दी हैं।

त्यागरूप से गुदा मे। यह मानुषी समाज्ञाएं हैं (यह ब्रह्म की वह पहचानें हैं, जो मनुष्य के कर्मों में प्रकाशित होती हैं) अब दैवी समाज्ञाएं [ब्रह्म की वह पहचानें जो देवताओं से सम्बन्ध रखती हैं] कहते हैं। तृप्तिरूप से वृष्टि में, बलरूप से बिजली में, यशरूप से पशुओं में, ज्योतिरूप से नक्षत्रों में, [पुत्र पौत्रादि रूप से] आगे बढ़ना, अमृतत्व, और आनन्द-रूप से उपस्थ में, सर्वरूप से आकाश में।

उस (ब्रह्म) को सबका सहारा जानकर उपासे, तब सहारा देने वाला बनता है। उसको महान् जानकर उपासे, तब वह महान् होजाता है। उस को मन के रूप से उपासे, तब मन वाला (मनस्वी) होजाता है। उसको झुकाव (जिस के आगे सब झुकते हैं) के रूप से उपासे, तब उसके लिये सारी कामनाएं झुक पड़ती हैं। उसको ब्रह्मरूप से उपासे, तब वह ब्रह्म वाला* होजाता है। उसको ब्रह्म का परिमर † =ब्रह्माण्ड का लय करने वाला है, इस प्रकार उपासे, तब इस से द्वेष करने वाले शत्रु चारों ओर मरते हैं, और चारों ओर वह शत्रु मरते हैं जो इसे अप्रिय हैं।

वह (ब्रह्म) जो यह पुरुष में है, और जो यह सूर्य में है। वह एक है ‡। जो यह जानता है, जब वह इस लोक से चलता है, तो वह इस अन्नमय आत्मा को प्राप्त होकर, इस प्राणमय

---

* विराट् की नाईं स्थूल भोगरूप साधनों वाला (आनन्दगिरि) बढ़ा हुआ वा वेदवाला (शंकरानन्द)।

† परिमर=वायु। क्योंकि उसमें अग्नि, सूर्य, चन्द्र और विद्युत् लीन होते हैं। देखो कौषी॰ उप। २। १२।

‡ मिलाओ २। ८ से

ॐ

श्वेताश्वतर-उपनिषद्

पं॰ राजाराम प्रोफ़ैसर डी.ए.वी.
कालेज लाहौर प्रणीत

सरल हिन्दी भाष्य समेत

सँव्वत् १९८१ विक्रम ।

बाम्बे मैशान प्रेस मोहनलाल रोड लाहौर में मैनेजर
शरत्चन्द्र लखनपाल के प्रबन्ध से छपा ।

तीसरीवार १०००] [मूल्य ।-)

श्वेताश्वतर उपनिषद्

श्वेताश्वतर उपनिषद्-तैत्तिरीय (कृष्ण यजुर्वेद) से सम्बन्ध रखती है। वैशम्पायन की शिष्यपरम्परा में एक श्वेताश्वतर ऋषि हुए हैं, जिन के नाम पर कृष्णयजुर्वेद की एक शाखा श्वेताश्वतर * नाम से है, यह उपनिषद् उसी शाखा की है, इस लिये इस को श्वेताश्वतर उपनिषद् कहते हैं। आज कल इस उपनिषद् के बिना श्वेताश्वतर शाखा का और कोई भाग नहीं मिलता है॥

श्वेताश्वतर के दो अर्थ हो सकते हैं, सुफेद खच्चर वा सुफेद खच्चरों वाला। यहां दूसरा अर्थ ही समुचित है, क्योंकि इसी चाल पर अर्जुन का उपनाम जो श्वेताश्व है, वह इसलिये है, कि अर्जुन के घोड़े श्वेत थे, और ऐसे ही हर्यश्व जो इन्द्र के लिये प्रयुक्त होता है, उस का अर्थ है, हरे घोड़ों वाला। ऋग्वेद के मण्डल ५ सूक्त ५२ से ६१ तक का ऋषि जो श्यावाश्व है, उस का अर्थ भी हमें काले घोड़ों वाला ही समुचित प्रतीत होता है न कि काला घोड़ा॥

श्वेताश्वतर उपनिषद् प्रधान दस उपनिषदों में नहीं आती है, तथापि यह अपने विषय की अपेक्षा से बड़ी

---

* श्वेताश्वतर के अनुयायी सब श्वेताश्वतर कहलाते हैं, इसी लिये इस को 'श्वेताश्वतराणां मन्त्रोपनिषद्'=श्वेताश्वतरों की मन्त्रोपनिषद् कहा है।

मनोहर है, और पुराने आचार्यों ने इस का पूरा आदर किया है। वेदान्त सूत्रों में इस की किसी श्रुति का स्पष्ट पता देकर कोई सूत्र रचना हुई हो, यह कहना तो कठिन है, पर श्रीशंकराचार्य ने १ । १ । ११; १ । ४ । ८; २ । ३ । २२ इन तीन सूत्रों का लक्ष्य इस की श्रुतियों को बतलाया है, और विद्यारण्य ने सर्वोपनिषदर्थानुभूतिप्रकाश में जो १२ उपनिषदें प्रमाणतया उद्धृत की हैं, उन में यह भी है ॥

प्रथम अध्याय

ओ३म् ब्रह्मवादिनो वदन्ति-किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क्च सम्प्रतिष्ठाः । अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् । १ ।

ब्रह्मवादी कहते हैं-क्या कारण ब्रह्म है * ? हम किस से जन्मे हैं, किस में जीते हैं, और किस में लीन होते हैं ? हे ब्रह्मवेत्ताओ ! [हमें बतलाओ] वह कौन अधिष्ठाता है; जिस की व्यवस्था पर हम सुखों में वा दुःखों में वर्तते हैं ॥१॥

---

* कई वेदवादी जिन्हों ने वेद से यह सीखा है कि ब्रह्म से इस जगत् का जन्म स्थिति और प्रलय होता है, वही हमारा अधिष्ठाता है, और उसी की व्यवस्थानुसार हम सुखों वा दुःखों को भोगते हैं, इस प्रकार से वेद में बतलाये हुए जगत

ब्रह्म के बिना और जो २ कारण सम्भव हैं, वा बतलाए जाते हैं, उन की पहले परीक्षा करते हैं :—

कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छाभूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम् । संयोग एषां नानात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः ॥२॥

क्या काल, वा स्वभाव, वा नियति (होनी), वा यदृच्छा

के कारण ब्रह्म को वह अब प्रत्यक्ष देखना चाहते हैं, और देखना चाहते हैं, कि कई विद्वान् जो यह कहते हैं, कि इस जगत् का कारण काल है, और दूसरे कहते हैं, स्वभाव है, इत्यादि वचनों में कहां तक सचाई है, इस बात को प्रत्यक्ष करने के लिये वह उन की शरण में आए हैं, जो ब्रह्मवेत्ता हैं । उन की शरण में आकर उन पर अपना अभिप्राय इन शब्दों में प्रकट करते हैं, क्या कारण ब्रह्म है (अथवा काल आदि) ? यद्यपि इस प्रश्न वाक्य में काल, स्वभाव इत्यादि का नाम नहीं लिया, पर प्रश्न की बनावट प्रकट करती है, कि ब्रह्म के बिना जो दूसरे कारण बतलाये जाते हैं, उनके तत्त्व को भी वे जानना चाहते हैं, अतएव इस से अगले मन्त्र में उन पर विचार किया गया है, प्रश्न वाक्य में काल आदि के स्पष्ट न कहने का हेतु यह है, कि इन जिज्ञासुओं को विश्वास यही है, कि कारण ब्रह्म है, क्योंकि वेद से यही शिक्षा पाई है, और जिन के पास बैठे हैं, वह भी ब्रह्मविद् हैं ॥

(Chance) वा भूत कारण हैं * अथवा पुरुष (जीवात्मा)

* हम प्रायः देखते रहते हैं, कि सब वस्तुएं अपने २ ऋतु में उत्पन्न होती वा फलती हैं। वस्तुतः जो नाम उत्पत्ति है, उस सब के लिये एक न एक ऋतु काल नियत है, यही हेतु है काल को कारण मानने में। पर हम दूसरी ओर यह देखते हैं, कि जो जिस का स्वभाव (अपनी नेचर Nature) है, उस के सदृश ही उस से कार्य्य होता है, विरुद्ध नहीं, और उसी से वह कार्य्य होता है, दूसरे से नहीं। अग्नि जलाती ही है, गलाती नहीं, और अग्नि ही जलाती है, न कि पानी। गेहूं ही से गेहूं उगता है, न कि जौं से, और गेहूं ही गेहूं से उगता है, न कि जौ। यह हेतु है स्वभाव को कारण मानने में। फिर हम यह भी देखते हैं कि हम जोड़ मेल तो कुछ और ही करते रहते हैं, और हो कुछ और ही जाता है, यह हेतु है नियति (होनी) को कारण मानने में। अतएव अपने प्रयत्न से उलटा होता हुआ देख कर कहते हैं 'होनी बड़ी बलवान है'। फिर हम देखते हैं, कि जहां एक बड़ का वृक्ष है, वहां शीशम के उत्पन्न होने के लिये कोई रोक न थी, यह एक संयोग की बात है, कि वहां बड़ का बीज गिरा, न कि शीशम का, यदि शीशम का गिरता तो शीशम ही होता, न कि बड़, सो यह एक संयोग (यदृच्छा) की बात है, और सब जगह भी यही बात हो सकती है, इस पर निर्मूल लम्बे चौड़े विचार उठाना व्यर्थ है, सो यह हेतु है यदृच्छा (इत्तिफाक Chance) को कारण मानने में। और पांच महाभूतों को कारण मानने में यह हेतु है, कि हम जो कोई कार्य देखते हैं, वह इन्हीं से प्रकट होता हुआ देखते हैं।

कारण है, यह विचारणीय है। इन का संयोग भी (कारण) नहीं हो सकता है, क्योंकि यह अनात्म पदार्थ (जड़ पदार्थ) हैं * और आत्मा (जीवात्मा) भी समर्थ नहीं, क्योंकि वह स्वयं सुख दुःख में पड़ा है † ॥२॥

इस प्रकार विचार द्वारा, उक्त कारणों में से किसी को भी स्वतन्त्र न पाकर, तब उन्होंने ध्यान और समाधि के द्वारा उस स्वतन्त्र शक्ति को प्रत्यक्ष किया, जो इन सारे कारणों की अधिष्ठात्री होकर सब के अन्दर वर्तमान है, यह दिखलाते हैं:-

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् । यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः । ३ ।

(तब) उन्होंने ध्यान और समाधि में मग्न हो अपने कार्यों (सूर्य आदि) के अन्दर छिपी हुई, परमात्मा की निज शक्ति को प्रत्यक्ष देखा, जो (देव) अकेला काल और आत्मा समेत उन (पूर्वोक्त) सारे कारणों का अधिष्ठाता है ॥३॥

---

* इन में से एक २ को कारण मानना तो दुर रहा, इन का समुदाय भी स्वतन्त्र कारण नहीं हो सकता है, क्योंकि यह जड़ हैं, और जड़ पदार्थ कार्य करने में स्वतन्त्र नहीं होता है॥

† आत्मा चेतन होने से स्वतन्त्र तो है, पर वह भी जगत् के रचने में समर्थ नहीं, क्योंकि वह स्वयं किसी दूसरी शक्ति के अधीन सुख दुःख भोगता है ॥

तमेकनेमिं त्रिवृतं षोडशान्तं शतार्धारं विंशति प्रत्यराभिः । अष्टकैः षड्भिर्विश्वरूपैकपाशं त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैकमोहम् ॥४॥

(हम एक ऐसे रथ को देखते हैं) जिस की १ नेमि है, ३ लपेटें हैं, १६ सिरे हैं, ५० अरे हैं, २० प्रत्यरे हैं, ६ अष्टकों (अट्ठों) से युक्त है. भांति २ के रंगों की उस में एक फांस है, उस के मार्ग तीन हैं, उस का एक घुमाव है जिस के दो निमित्त हैं * ॥ ४ ॥

---

* यह इस चलते हुए ब्रह्माण्ड का एक रथ के रूपक में वर्णन है । रथ का पहिया बनाने में कुछ कुबड़ी लकड़ियों को एक दूसरी के साथ गांठने से एक गोल पहिया बन जाता है, उस गोल पहिये के ऊपर की गोल रेखा नेमि कहलाती है, उसको ऊपर से जो रबड़ से मढ़ देते हैं,वा लोहे का कड़ा चढाते हैं, वह उस की लपेट है, और पहिये की लकड़ियों के अलग२ सिरे हैं, नाभि और चक्र के मध्य में जो लकड़ियां होती हैं, वह अरे हैं, और उन की दृढता के लिये जो साथ और छोटे २ अरे लगाए जाते हैं, वह प्रत्यरे (सहायक अरे) हैं ॥

यहां १ नेमि प्रकृति । प्रकृति के ३ गुण सत्व, रजस, तमस, ३ लपेटें हैं । १६ सिरे,१६ विकार हैं, अर्थात् पृथ्वी,जल तेज, वायु, आकाश यह पांच महाभूत । वाणी, हस्त, पाद, पायु (गुद) और उपस्थ--यह पांच कर्मेन्द्रिय । नेत्र, श्रोत्र, त्वचा, घ्राण और रसना यह पांच ज्ञानेन्द्रिय । और मन ।

पञ्चस्रोतोम्बु पञ्चयोन्युग्रवक्रांपञ्चप्राणोर्मि-पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम्। पञ्चावर्तां पञ्चदुःखौघवेगां पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वामधीमः ॥५॥

सांख्य सिद्धान्त में यह १६ केवल विकार (विकृति) माने हैं। अर्थात् प्रकृति के विकार के यह सोलह सिरे हैं, यहां विकार की समाप्ति है (देखो सांख्य सप्तति कारिका ३) ॥

पचास अरे = पचास प्रत्यय भेद, जो इस प्रकार वर्णन किये हैं, (१) पांच विपर्य्यय = मिथ्या ज्ञान के पांच भेद अर्थात तमस्, मोह महामोह, तामिस्र, अन्धतामिस्र, वा पतञ्जलि के अनुसार अविद्या (मिथ्या ज्ञान) अस्मिता (आत्मा और अन्तः-करण की ग्रन्थि) राग द्वेष और अभिनिवेश (भय) (देखो सांख्य सूत्र ३ । ३७) (२) अठाईस अशक्तियां (सांख्य ३।३८) अर्थात् नौ तुष्टियां (सांख्य ३ । ३९) और आठ सिद्धियां (सांख्य ३ । ४०) । यह सब मिला कर (५ + २८ + ९ + ८) पचास अरे हैं (विस्तृत देखो सांख्य सूत्र ३ । ३७,४५, सांख्य कारिका ४७) बीस सहायक अरे यह हैं, दस इन्द्रिय और दस उन के विषय अर्थात् पांच कर्मेन्द्रिय-बाणी, हस्त, पाद, पायु, उपस्थ पांच इन के कर्म, बोलना, पकडना, चलना, मल का त्यागना और सन्तानोत्पादन । पांच ज्ञानेन्द्रिय, नेत्र, श्रोत्र, घ्राण, रसना, त्वचा, और पांच इन के ज्ञान, देखना, सुनना, सूंघना, चखना और छूना ॥

वा हम एक नदी को ध्यान में लाते हैं, जिस का पानी पांच प्रवाहों का है, वह पांच चश्मों से निकल कर भयानक और टेढी बहती है, पांच प्राण उस में लहरें हैं, उसका (सिरा) पांचों ज्ञानों का कारण है, उस में पांच भंवर हैं, उस के प्रवाह के वेग पांच दुःख हैं, उस के भेद पचास हैं, और जोड़ पांच हैं * ॥ ५ ॥

यद्यपि मूल में प्रकट नहीं किया है, कि यहां एक नेमि से प्रकृति अभिप्रेत है, इत्यादि, तथापि ऊपर कही हुई प्रक्रिया सांख्य में ज्यों की त्यों है, और इस उपनिषद् में सांख्य और योग की परिभाषाएं पाई जाती हैं । ६ । १३ में सांख्य और योग को परब्रह्म की प्राप्ति का साधन भी बतलाया है, इस लिये हम ऊपर की संख्याओं में सांख्य और योग के अनुसार अर्थ लेने में असली अभिप्राय पर पहुंच जाते हैं । पर अष्टक छः से जो अभिप्राय है, वह पूरा स्पष्ट नहीं है, शंकराचार्य्य ने छः अष्टक यह लिखे हैं, आठ प्रकृतियें (गीता० ७ । ४) आठ शरीर के धातु,-आठ ऐश्वर्य, आठ भाव (बुद्धि के भेद) आठ (प्रकार के) देवता, आठ आत्मा के गुण । एक फांस, कामना (इच्छा) है, यह नाना रूपों वाली विषयभेद से है, अर्थात् स्वर्ग, पुत्र, अन्न आदि की इच्छा ।

तीन मार्ग=धर्म, अधर्म और अज्ञान ।

एक भूल आत्मा का मिथ्याज्ञान है, अर्थात् देह, इन्द्रिय मन बुद्धि इन अनात्म वस्तुओं को आत्मा जानना । इस के दो निमित्त पुण्य और पाप हैं ।

* यहां फिर संसार को नदी के रूप में वर्णन किया है,

इस चक्र में आत्मा का घूमना, और उस से छूटने का उपाय बतलाते हैं :—

सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते तस्मिन् हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे । पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति ॥६॥

सब को जीवन देने वाले और सब को आश्रय देने वाले उस बड़े ब्रह्मचक्र में हंस (जीवात्मा) घुमाया जारहा है, जब वह (देह से) पृथक् (आत्मा) को, और उस के प्रेरक (घुमाने वाले परमात्मा) को जान लेता है, तब वह उस से प्यार किया हुआ अमृतत्त्व को प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

उद्गीतमेतत् परमं तु ब्रह्म तस्मिँस्त्रयं सुप्रतिष्ठाऽक्षरं च । अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः ॥७॥

पांच प्रवाह पांच ज्ञानेन्द्रिय हैं, पांच चश्मे पांच महाभूत हैं, पांच लहरें पांच प्राण हैं, सिरा मन है, जो बाह्य ज्ञान के पांचों प्रवाहों का मूल है, पांच भंवर, पांच ज्ञानेन्द्रियों के पांच विषय हैं, पांच वेग पांच दुःख हैं, गर्भ का दुःख, जन्म का दुःख, जरा का दुःख व्याधि का दुःख और मृत्यु का दुःख । पचास भेद (टुकड़े) जो पूर्व ५० आरे कहे हैं पांच पर्व, पांच क्लेश अविद्या अस्मिता, राग द्वेष और अभिनिवेश ॥

(उपनिषदों में) यह गाया गया है कि ब्रह्म (शुद्ध ब्रह्म) सब से परे है, उस में (तीनों) लोक हैं वह उत्तम आश्रय है और अविनाशि है, वेदवादी जिन्हों ने यहां उस को अन्दर (हृदयाकाश में) ढूंढा, वह ब्रह्म में लीन हुए और तत्परायण हुए जन्म से छूट गए ॥ ७ ॥

संयुक्तमेतत् क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः । अनीशश्चात्मा वध्यते भोक्तृभावाज् ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥८॥

यह जो नाशवान् (कार्य्य) और नाश रहित (कारण प्रकृति) है जो व्यक्त (प्रकट) और अव्यक्त है । इस सारे विश्व का ईश्वर पालन पोषण करता है । जीवात्मा * जो कि असमर्थ है, वह (इस के फलों का) भोगने वाला होने के कारण (इस में) बद्ध होता है, पर जब वह परमात्मा को जान लेता है, तो वह सारी फांसों से छूट जाता है ॥ ८ ॥

ज्ञाज्ञौ द्वावजा वीशनीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता । अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत् ॥ ९ ॥

---

* जीवात्मा अल्पशक्ति है, वह प्रकृति पर वस नहीं रखता इसलिए प्रकृति उसको बांध लेती है, पर यह बन्धन वह आप अपने लिए डालता है, जब उसके रसों में फंस जाता है ।

वह दो हैं, एक जानने वाला (सर्वज्ञ, ईश्वर) और दूसरा अनजान (अल्पज्ञ, जीव) दोनों अजन्मा हैं, एक ईश (समर्थ, सर्वशक्ति) है और दूसरा अनीश (असमर्थ, अल्पशक्ति) है, और एक और अजन्मा अनादि है, जो भोक्ताओं के लिये भोग्य पदार्थों से युक्त है। अनन्त आत्मा विश्वरूप और अकर्ता है * । यह ब्रह्म का जो त्रिक † है जब मनुष्य इसको पा लेता है, कि—

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः। तस्याभिध्यानाद्योजनात् तत्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः ॥१०॥

प्रकृति परिणामिनी (बदलती रहने वाली) है, हर (पुरुष) अमृत है और अपरिणामी है, इन दोनों प्रकृति और पुरुष पर एक देव ईशन (हकूमत) करता है । उस एक के ध्यान से, उस में जुड़ जाने से, तन्मय हो जाने से फिर अन्त में सारी माया हट जाती है (सब धोखे मिट जाते हैं) ॥१०॥

---

* शबलरूप में वह सब रूपों में चमक रहा है, और स्वस्वरूप में शान्त है, अकर्ता है।

† त्रिक, तीन का समुदाय, (१) परमात्मा, उत्पन्न करने वाला और शासन करने वाला, (२) जीवात्मा, बन्ध और मोक्ष का भागी (३) प्रकृति,जो भोग्य वस्तुओं की जननी है, देखो आगे ॥ १२ ॥

ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशै-र्जन्ममृत्युप्रहाणिः। तस्याभिध्यानात्तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः ॥११॥

जब मनुष्य देव को जान लेता है, तो सारी फांसें छूट जाती हैं, क्लेश (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश) क्षीण हो जाते हैं, और उन के क्षीण होने से जन्म मृत्यु बन्द हो जाते हैं। उस के ध्यान से देह से अलग होने पर, (ब्रह्म लोक में) तीसरा * जो पूर्ण ऐश्वर्य है, वह प्राप्त होता है, और तब पुरुष केवल हुआ आप्तकाम हो जाता है † ॥११॥

एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित्। भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत् ॥१२॥

---

* ब्रह्मलोक के ऐश्वर्य से नीचे दो ऐश्वर्य और हैं, मनुष्यलोक का और पितृलोक का, यह दोनों इस तीसरे ऐश्वर्य से छोटे हैं (देखो उपनिषदों की शिक्षा, अ० ७ पृष्ठ १९८ से २०६ और अ० ८ पृष्ठ २५८) ॥

† ब्रह्मलोक में पहुंच कर उस ब्रह्म के दर्शन होते हैं, और वह केवल (अपने स्वरूप में अवस्थित) होता है, और शान्त होता है। कामनाओं की हलचल बंद हो जाती है (देखो० उपनिषदों की शिक्षा अ० ८ पृष्ठ २०६) ॥

इस को जानो, जो सदा तुम्हारे आत्मा में वर्तमान है, *

---

* इसको नियम से अपने आत्मा में ही जानना चाहिये, इस पर स्वामि शंकराचार्य ने शिवधर्मोत्तर से यह प्रमाण दिये हैं :—

शिवमात्मनि पश्यन्ति प्रतिमासु न योगिनः ।
आत्मस्थं यः परित्यज्य बहिस्थं यजते शिवम् ॥
हस्तस्थं पिण्डमुत्सृज्य लिह्यात् कूर्परमात्मनः ।
सर्वत्रावस्थितं शान्तं न पश्यन्तीह शङ्करम् ॥
ज्ञान चक्षुर्विहीनत्वादन्धः सूर्यं यथोदितम् ।
यः पश्येत् सर्वगं शान्तं तस्याध्यात्मस्थितः शिवः ॥
आत्मस्थं ये न पश्यन्ति तीर्थे मार्गन्ति ते शिवम् ।
आत्मस्थं तीर्थमुत्सृज्य बहिस्तीर्थादि यो व्रजेत् ।
करस्थं स महारत्नं त्यक्त्वा काचं विमार्गति ॥

योगीजन शिव को अपने आत्मा में देखते हैं, न कि प्रतिमाओं में । जो आत्मस्थ शिव को छोड़ कर बहिस्थ (बाहर स्थित) शिव को पूजता है, वह अपने हाथ पर रक्खे लड्डू को छोड़ कर अपनी कुहनी को चाटता है । सर्वत्र वर्तमान, शान्त, शङ्कर को यहां (आत्मा) में नहीं देखते हैं, क्योंकि वह ज्ञान चक्षु से हीन हैं, जैसे अन्धा उदय हुए सूर्य को नहीं देखता है । जो सर्व व्यापक शान्त को देखे, उस के लिये शिव अपने अन्दर स्थित है । जो आत्मस्थ शिव को नहीं देखते हैं, वह शिव को तीर्थ पर ढूंढते हैं । आत्मस्थ तीर्थ को छोड़कर जो बाहर के तीर्थ आदि को जाता है, वह हाथ में स्थित महारत्न को छोड़ कर काच को ढूंढता है ।

इस से परे कुछ जानने योग्य नहीं है, भोक्ता (जीव) भोग्य (प्रकृति और उस के कार्य) और प्रेरक (ईश्वर) को समझ कर सब समझा जाता है, यह त्रिक ब्रह्म सम्बन्धी है ।

उसके दर्शन किस उपाय से होते हैं, यह दिखलाते हैं-

वन्हेर्यथा योनिगतस्य मूर्तिर्न दृश्यते नैव च लिङ्गनाशः । स भूय एवेन्धनयोनिगृह्यस्तद्वोभयं वै प्रणवेन देहे ॥ १३ ॥

जैसा कि अरणि में स्थित भी अग्नि की मूर्ति नहीं दीखती है और न ही उस के सूक्ष्मरूप (जो अरणि के अन्दर उस समय भी है) का नाश है, वह (अरणिगत अग्नि) फिर २ उत्तरारणि और अधरारणि (के रगड़ने) के द्वारा ग्रहण किया जाता है, इन दोनों बातों की न्याईं आत्मा ओंकार के द्वारा देह में (ध्यान से पहले छिपा हुआ ध्यानाभ्यास से ग्रहण किया जाता है) * ॥ १३ ॥

---

* यज्ञ में अग्नि उत्पन्न करने के लिये पीपल के दो काष्ठ विशेष अपने नियत आकार में तय्यार किये जाते हैं, यह दोनों अरणियां कहलाती हैं, उन में से एक को नीचे रख कर और दूसरे को मथाने की तरह ऊपर रख कर मथन करके अग्नि निकालते हैं, इन दोनों अरणियों में से निचली अधरारणि और ऊपर की उत्तरारणि कहलाती है । यह अग्नि जो मथन करने से प्रकट होती है, इस की परमात्मा के दर्शन से तुलना की गई है । अग्नि पहले पहल नहीं दीखती है, यद्यपि उस का

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् ।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढवत् ।१४।

अपने देह को अधरारणि, और ओम् को उत्तरारणि बना कर, ध्यान की रगड़ के बार २ करने से छिपी आग की भांति उस परम ज्योति को देखे ॥१४॥

तिलेषु तैलं दधिनीव सर्पिराप: स्रोत:स्वरणिषु चाग्नि:। एवमात्माऽत्मानि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति ॥ १५ ॥

जैसे तिलों में तैल, दही में मक्खन, स्रोतों में जल * और अरणियों में अग्नि (पीलने, बिलोने, खोदने और रगड़ने से ग्रहण की जाती है) इस प्रकार परमात्मा आत्मा में ग्रहण किया जाता है, यदि कोई सत्य और तप से उसे देखता है।

सूक्ष्मरूप नष्ट नहीं हुआ, क्योंकि ज्यूंही अधरारणि को उत्तरारणि से मथन किया जाता है, तो अग्नि प्रकट हो जाती है । इसी प्रकार परमात्मा इस देह में पहले (अज्ञानावस्था) में नहीं दीखता है, यद्यपि वह देह में सदा वर्तमान है. जूं ही ओम् के द्वारा देह को बार २ मथन किया जाता है, तो चिंगाड़ी के दर्शन की तरह साक्षात् दीख जाता है।

* नदी जो सूखी पड़ी है उस के अन्दर छिपा हुआ पानी है, जो थोड़ा सा ही खोदने से निकल आता है।

सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवार्पितम् ।
आत्मविद्यातपोमूलं तद् ब्रह्मोपनिषत्परं ।
तद् ब्रह्मोपनिषत्परम् ॥ १६ ॥

दूध में रमे हुए मक्खन की भांति हर एक में व्यापे हुए आत्मा को वह देखता है, उस की प्राप्ति का मूल आत्मविद्या और तप है । यह ब्रह्म है, जिस में उपनिषद् का तात्पर्य है, हां यह ब्रह्म है, जिस में उपनिषद् का तात्पर्य्य है * ॥ १६ ॥

दूसरा अध्याय

प्रथम अध्याय में दिखलाया है, कि ऋषियों ने ध्यान और समाधि के द्वारा छिपी हुई देवात्मशक्ति को देखा, अब उस ध्यान और समाधि के स्वरूप को फलसहित वर्णन करते हैं :—

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्वाय सविता धियः । अग्निं ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत ॥१॥

सविता पहले मन को जोड़ कर और बुद्धियों को फैला कर अग्नि की ज्योति को देख कर पृथ्वी से ऊपर लाया † ।१।

---

* दो वार पाठ अध्याय की समाप्ति के लिये है ।

† इस अध्याय में आठवें मन्त्र से लेकर योग का वर्णन है, उस से पहले सात मन्त्र सविता की महिमा में हैं, सविता

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे । सुवर्गेयाय शक्त्यै ॥२॥

उदय होते हुए सूर्य के सम्बन्ध से शबल रूप में परमात्मा का नाम हैं, योग की प्राप्ति के लिये ईश्वरप्रणिधान एक उत्तम उपाय है । (देखो योग १ । २३) सो योग के आरम्भ में इन मन्त्रों के द्वारा परमात्मा की महिमा गाने से ईश्वरप्रणिधान सिखलाया है । इस लिए कि भक्तिविशेष से हम परमात्मा के अनुग्राह्य हों, अन्तराय (विघ्न) हमारे रस्ते से हट जावें और हम निर्विघ्न अभ्यास से आत्मा और परमात्मा के दर्शन करें (देखो योग १ । २६)

दूसरा, इस अध्याय में क्रम से यह बोधन किया है कि पहले हमें यज्ञ करने चाहियें उस के पीछे योगाभ्यास । क्योंकि कर्मों के द्वारा शुद्ध हुआ अन्तःकरण ही योग के योग्य होता है, इस लिए कर्मों के पीछे योगाभ्यास, तब समाधि द्वारा आत्मा और परमात्मा का साक्षात् दर्शन होता है ।

यह मंत्र तैत्तिरीयसंहिता ४ । १ । १ । २ । १; वाजसनेयी संहिता [यजुर्वेद] ११ । १; और शतपथ० ६ । ३ । १ । १२ । में है । तैत्तिरीय का पाठ उपनिषद् के साथ मिलता है, वाजसनेय पाठ में 'धियः.' की जगह 'धियम' और 'अग्नि' की जगह 'अग्ने' है । पहले पांच मंत्र अग्नि चयन के विषय में लगाए हैं । अभिप्राय यह है -

सविता मन और इन्द्रियों को युक्त करके अर्थात् पूरे

सविता देव की अनुज्ञा में युक्त हुए मन के द्वारा हम स्वर्गीय जीवन को प्राप्त हों * ॥२॥

युक्त्वाय मनसा देवान् सुवर्यतो धिया दिवम् ।
बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान् ।३

† सविता उन देवों को, जो चमकते हुए आकाश में चल रहे हैं, और जो बहुत बड़ी ज्योति को देंगे, उनको मन और बुद्धि से प्रेरता है ‡ ।

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः । विहोत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ।४।

ज्ञानी जन अपने मन और विचारों को एक महान् और सर्वज्ञ ऋषि में लगाते हैं वह जो नियमों का पहचानने

ध्य न द्वारा ज्योति से अग्नि का पता लगाकर उस को मण्डल (गोले) से ऊपर लाया है, जिस से हमारा जीवन है ॥

* तैत्ति० सं० ४ । १ । १ । १ । ३; वाज० सं० ११ । २; शत० ६ । ३ । १ ।

† तैत्ति० सं० ४ । १ । १ । १ । २; वाज० सं० ११ । ३ । तैत्ति० में 'युक्त्वाय मनसा" पाठ है, और वाज० में युक्त्वाय सविता' ।

‡ इस सौर जगत् में विद्युदादि सारे देवताओं का प्रेरक सविता है ।

वाला है (सविता)। उस अकेले ने ही यज्ञों को रचा है, सविता देव की स्तुति हमारे चारों ओर फैली हुई है *।

युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्विश्लोकएतु पथ्येव सूरेः। शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आये धामानि दिव्यानि तस्थुः ॥५॥

(हे द्यावापृथ्वी) तुम दोनों को (अन्तर्यामी) अनादि ब्रह्म को मैं नमस्कार करता हूं। मेरा यश सूर्य्य के मार्ग की तरह फैले, अमृत (परमात्मा) के वे सारे पुत्र (मुक्त जन) सुनें, जो दिव्य स्थानों को पहुंचे हैं †।

अग्निर्यत्राभिमथ्यते वायुर्यत्राभियुञ्जते। सोमो यत्रातिरिच्यते तत्र सञ्जायते मनः ॥६॥

---

* तैत्ति० सं० ४।१।१।१।४; १।२।१३।१।१; वाज० सं० ५।१४; ११।४; ३७।२७; ऋग् ५।८१।१; शत० ब्रा० ३।५।३।११; ६।३।१।१६॥

† तैत्ति० सं० ४।१।१।२।१; वाज० स० ११।५; ऋग् १०।१३।१; अथर्व० १८।३।३९। यहां हम ने वाजसनेय का पाठ दिया है, और वह ऋग्वेद के साथ मिलता है, तैत्तिरीय का पाठ 'विश्लोक एतु' की जगह 'विश्लोका यन्ति'; 'सूरेः' की जगह 'सूराः' और 'शृण्वन्तु' की जगह 'शृण्वन्ति' है॥

जहां अग्नि मथन की जाती हैं, जहां वायु शब्द करता है, जहां सोम अधिक बहाया जाता है, वहां मन उत्पन्न होता है *,

सवित्रा प्रसवेन जुषेत ब्रह्म पूर्व्यम् ।
तत्र योनिं कृण्वसे नहि ते पूर्व मक्षिपत् ॥७॥

सविता की प्रेरणा से हम अनादि ब्रह्म को प्यार करें, यदि तू वहां (अनादि ब्रह्म में) अपना स्थान बनाए, तो तुझे पहला कर्म हानि नहीं पहुंचाएगा † ॥ ७ ॥

---

* सोमयज्ञ में अग्नि को जलाकर और वायु से उसे प्रदीप्त करके ऋत्विज एकाग्र चित्त होकर स्तोत्र गाते हैं, अथवा जहां अग्नि (अर्थात परमात्मा) जो सारी अविद्याओं को जला देता है, मथन किया जाता है, अर्थात् ओम् के साथ देह में मथन करके प्रकाशित किया जाता है, जहां रेचक आदि प्राणायाम करने से वायु शब्द करता है, वहां मन ब्रह्माकार होता है, न कि अशुद्ध अन्तःकरण में (शंकराचार्य) ॥

† केवल कर्म सांसारिक शुभ फल देता है, संसार से परे नहीं ले जाता । पर जिसने अपने रहने का स्थान परमात्मा में बना लिया है, कर्म उसको संसार में नहीं बांधता, अपितु चित्तशुद्धि द्वारा उपासना में सहायक होता है (देखो ईश, २ अं ११) इसी लिए यहां पहले कर्म और पीछे उपासना का वर्णन है ॥

अब योग की प्रक्रिया का वर्णन करते हुए आसन, प्राणायाम और स्थान का वर्णन करते हैं—

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा सन्निवेश्य । ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ॥८॥ प्राणान् प्रपीड्येह संयुक्तचेष्टः क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत । दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वान्मनो धारयेताप्रमत्तः ॥९॥ समे शुचौ शर्करावन्हिबालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः । मनोऽनुकूले न तु चक्षुःपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ॥१०॥

शरीर के तीन अंगों (छाती, गर्दन और सिर) को सीधा रखकर इन्द्रियों को मनके साथ हृदय में प्रवेश करके, ओंकार की नौका पर सवार होकर, भय के लाने वाले सारे प्रवाहों से पार उतर जाए । ९ । (शरीर की) सारी चेष्टाओं को वश में करके प्राणों को रोके, और प्राण के क्षीण होने पर नासिका से श्वास ले * सचेत सारथि जैसे घोड़ों की चञ्चलता को रोकता है, † इस प्रकार अप्रमत्त

---

* गीता ५ । २७ । † ऐसा ही अलङ्कार कठ० ३ । ४-६ में है ।

होकर मन को रोके।।९ ऐसे स्थान पर योग का अभ्यास करे, जो सम है, शुद्ध है, कंकर, बालू और अग्नि से रहित है, जो शब्द जल और लता मण्डप * आदि से मन के अनुकूल है, और नेत्रों को पीड़ा देने वाला नहीं है, एकान्त है, और वायु के झोकों से रहित है। १०।

अब योगाभ्यास में सफलता के चिन्ह कहते हैं—

नीहारधूमार्कानिलानलानां खद्योतविद्युत् स्फटिकशशीनाम्। एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे ॥११॥ पृथिव्याप्यतेजोऽनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते। न तस्य रोगो न जरा न दुःखं प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ॥१२॥ लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं वर्णप्रसादः स्वरसौष्ठवं च। गन्धःशुभो मूत्रपुरीषमल्पं योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति ॥१३॥

जब अभ्यास पूरा होजाता है, तब पहले यह रूप दीखते हैं, कुहर, धुआं, सूर्य्य, वायु, अग्नि, जुगनूं, विद्युत, बिल्लौर और चन्द्र, तब इनके पीछे ब्रह्म का प्रकाश होता है ॥११॥

---

* शब्द, = शोर; जल जिस पर बहुत से लोग इकट्ठे होते हों, और आश्रय, मण्डप इनसे भी वर्जित देश हो (शंकराचार्य)

जब पृथिवी, जल, तेज वायु और आकाश प्रकट होते हैं, अर्थात् योग के पांच गुण प्रवृत्त होते हैं * तब फिर योगी के लिये न रोग है, न जरा है न दुःख है क्योंकि उसने वह शरीर पालिया है जो योग की अग्नि से बना है। १२। योग का पहला फल यह कहते हैं, शरीर हलका होजाता है, आरोग्य रहता है, विषयों की लालसा मिट जाती है, कान्ति बढ़ जाती है, स्वर मधुर होजाता है, गन्ध शुभ होता है, और मलमूत्र थोड़ा होता है। १३।

इस के पीछे उसे आत्मा के शुद्ध स्वरूप का साक्षात् होता है—

यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं तेजोमयं भ्राजते तत् सुधौतम् ॥ तद्वाऽऽत्मतत्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः ॥१४॥

---

* पंच महाभूत—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश हैं, इनके पांच गुण-गन्ध, रस. रूप, स्पर्श और शब्द, योग के गुण हैं, संयम द्वारा इन का साक्षात्कार योग प्रवृत्ति कहलाती है, जैसा कि नासिका के अग्र में सयम करने से दिव्य गंध का साक्षात्कार होता है। इसी प्रकार जिह्वा के अग्र में दिव्य रस का, तालु में दिव्यरूप का, जिह्वा के मध्य में दिव्य स्पर्श का और जिह्वा के मूल में संयम करने से दिव्य शब्द का साक्षात्कार होता है। इन के होने पर मन स्थिर होजाता है, क्योंकि फिर उस को बाह्य विषय नहीं खींच सके [देखो योगसूत्र १ । ३५]

जैसे वह रत्न जो मट्टी से लिबड़ा हुआ है, वह जब धोया जाता है, तो फिर तेजोमय हुआ चमकता है, इस प्रकार देही आत्मा फिर आत्मतत्त्व (आत्मा के असली स्वरूप) को देखकर शोक से पार हुआ कृतार्थ होजाता है।१४।

आत्मतत्त्व से ब्रह्मतत्त्व को देखकर मुक्त होजाता है—

यदाऽऽत्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्। अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः।१५।

फिर जब सावधान होकर आत्मतत्त्व से ब्रह्मतत्त्व को देखता है, तब वह उस अजन्मा अटल (कूटस्थ) और सारे तत्त्वों से शुद्ध * देव को जानकर सारी फांसों से छूट जाता है।१५।

एष हि देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो हजातः स उ गर्भे अन्तः। स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति सर्वतोमुखः॥ १६॥

यो देवोऽग्नौ योऽप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश। य ओषधिषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमोनमः॥१७॥

* यही शुद्ध स्वरूप है, जिसको मन, वाणी नहीं पहुंचते किंतु केवल आत्मतत्त्व से जाना जाता है।

यह देव है, जो सारी दिशाओं के साथ २ फैला हुआ है, यह (हिरण्यगर्भ रूपसे) पहले प्रकट हुआ, यह इस (ब्रह्माण्ड) के अन्दर (अन्तर्यामी रूप से) है, । यह प्रकट हुआ है और यह प्रकट होगा। और यह सब लोगों के पीछे सर्वतोमुख (सब को देखता हुआ) ठहरता है * ॥ १६ ॥ जो देव अग्नि में है, जो जलों में है, जो सारे भुवन में आवेश किये हुए है, जो ओषधियों में है, जो वनस्पतियों में है, उस देव को नमस्कार है, नमस्कार है।

तीसरा अध्याय।

इस तीसरे अध्याय में ब्रह्म को ईश और रुद्र के रूप में सृष्टि और प्रलय का कारण दिखला कर उससे परे शुद्ध स्वरूप और उस स्वरूप के ज्ञान से अमृतत्त्व की प्राप्ति दिखलाते हैं।

य एको जालवानीशत ईशनीभिः सर्वाँल्लोकानीशत ईशनीभिः । य एवैक उद्भवे सम्भवे च य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ १ ॥

एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य इमाँल्लोकानीशत ईशनीभिः । प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति

---

* वाज० सं० ३२। ४; तैत्ति० आर० १०। १३ ।

सञ्चुकोचान्तकाले संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः ॥ २ ॥

वह जालवान् * जो अकेला अपनी शक्तियों से ईशन करता है, जो सारे लोकों पर अपनी शक्तियों से ईशन करता है, जो अकेला ही है, जब उनको जन्म देता है, और आगे बढ़ाता है, जो इसको जान लेते हैं, वे अमृत हो जाते, हैं ॥१॥ क्योंकि रुद्र एक हैं, उन्हों ने (जानने वालों ने) दूसरा नहीं ठहराया है, जो अपनी शक्तियों से इन लोगों पर ईशन करता है। जो सब लोगों के पीछे खड़ा है, और सारे भुवनों को रचकर रक्षा करने वाला अन्तकाल में इस को समेट लेता है ॥१७॥

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात् । सं बाहुभ्यां धमति सम्पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ॥ ३ ॥ यो देवनां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः । हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥४॥

---

* जालवान्, मायी, यह माया जाल है, जिस ने हमें भ्रमाया हुआ है, और परमात्मा इसका मालिक है।

वह * एक देव, जिसके नेत्र, भुजाएं, और पाद हरएक जगह पर हैं, † वह द्यौ और पृथ्वी को उत्पन्न करता हुआ भुजाओं से और पंखों से एक साथ धमाता (धौंकता) है ‡ ॥३॥ जो § देवताओं का रचने वाला और बढ़ाने वाला है, रुद्र, सब का मालिक, महर्षि (बड़ा देखने वाला) है, जिसने पहले पहल हिरण्यगर्भ को प्रकट किया, वह हमें शुभ बुद्धि से संयुक्त करें ॥४॥

या ते रुद्र शिवा तनूरघोराऽपापकाशिनी।
तया नस्तनुवा शन्तमया गिरिशन्ताभिचाकशी

---

* ऋग्० १० । ८१ । ३; वाज० सं० १७ । १९; अथर्व० १३ । २ । २६;, तैत्ति० सं० ४ । ६ । २ । ४; तैत्ति० आर० १० । १ । ३ ।

† उसके नेत्र सब जगह हैं अर्थात् वह सब जगह देखता है, सब पर उसकी दृष्टि है; सब जगह मुख (चेहरा) है अर्थात् सब जगह उसके दर्शन मिल सकते हैं। सब जगह भुजाएं हैं अर्थात् उस की रक्षा सब जगह है। उसके पाद सब जगह हैं, अर्थात् वह सब जगह पहुंचा हुआ है।

‡ द्यौ और भूमि को धौंक कर गर्म करने से अभिप्राय है। शंकराचार्य ने 'संधमति' का अर्थ 'संयोजयति'=संयुक्त करता है' किया है और अभिप्राय यह लिया है कि मनुष्यों को भुजाओं से और [पक्षियों को] पंखों से संयुक्त करता है।

§ देखो ४ । १२ ।

हि॥ ५ ॥ यामिषुं गिरिशान्त हस्ते बिभर्ष्य-
स्तवे । शिवां गिरित्र तां कुरु माहिꣳसीः पुरुषं
जगत् ॥ ६ ॥

* हे रुद्र ! † हे गिरिशन्त (मेघ में रहने वाले) तेरा स्वरूप जो शिव है, भयानक नहीं, जिस से कोई पाप (क्रूरता) नही प्रकाशता, उस, सब से बढ़कर कल्याणकारी स्वरूप से हमारे ऊपर दृष्टि डालो । ५ । हे ‡ गिरिशन्त जिस बाण को फैंकने के लिए तुम हाथ में धारण करते हो, हे मेघ के मालिक उसको कल्याणकारी बनाओ । मनुष्य और पशु को हानि न पहुंचाओ ॥६॥

ततः परं ब्रह्म परं बृहन्तं यथानिकायं सर्वभूतेषु
गूढम् । विश्वस्यैकं परिवेष्टितारमीशं तं ज्ञात्वा-
ऽमृता भवन्ति । ७ । वेदाहमेतं पुरुषं महान्त
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् । तमेव विदित्वा-
ऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥८॥

---

* देखो वाज० सं० १६ । २; तैत्ति० सं० ४ । ५ । १ ।१ ।

† रुद्र, कड़कते हुए मेघ के अन्दर जो अग्नि है, उस अग्नि से भासती हुई महिमा को लेकर शबल रूप में परमात्मा का नाम है. उसके दो रूप हैं–शिव [कल्याणकारी] और घोर भयानक ।

‡ देखो वाज० सं० १६ । ३; तैत्ति० सं० ४ । ५ । १ । १।

उस से परे परब्रह्म है, सारे फैला हुआ, सब भूतों के शरीर में छिपा हुआ, अकेला सारे विश्व को घेरने वाला इस ईश को जो जान लेते हैं, वे अमृत हो जाते हैं, ।७। * मैं उस महान् पुरुष को, जो सूर्य के तुल्य चमक वाला है, और अन्धेरे से परे है †, जानता हूं जो मनुष्य उसको जान लेता है, वही मृत्यु से पार उतारता है, और कोई मार्ग (वहां) जाने के लिये नहीं है ‡ ।८।

यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चित् यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति किंचित् । वृक्ष इवस्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ।९। ततो यदुत्तरतरं तदरूपमनामयम् । य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति ॥१०॥

जिस से न कुछ परे है, न वरे है, जिस से न कुछ सूक्ष्मतर है, न महत्तर है । वृक्ष की तरह जमकर वह अकेला आकाश में खड़ा है, उस पुरुष ने इस सब को पूर्ण किया हुआ है । ९ । इस (लोक) से जो परे है, वह रूप से रहित और दुःख से रहित है जो इस को जान लेते हैं, वे अमृत हो जाते हैं, और दूसरे निःसंदेह दुःख में डूबते हैं § ॥ १० ॥

---

* वाज० सं० ३० । १८; तैत्ति० आर ३ । १२ । ७; ३ । १३ । १

† मिलाओ गीता ८ । ९ ॥ ‡ मिलाओ श्वेता० ६ । १५ ॥

§ संसार दुःख अर्थात् बार २ का जन्म देखो बृह० ४।३।२०

सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः । सर्वव्यपी स भगवान् तस्मात् सर्वगतः शिवः । ११ । महान् प्रभुर्वै पुरुषः सत्त्वस्यैष प्रवर्तकः । सुनिर्मलामिमां प्राप्तिमीशानो ज्योतिरव्ययः ॥ १२ ॥ अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः । हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥१३॥

सब के मुख, सिर और ग्रीवा (गर्दन) उसकी हैं. (=वह इन का मालिक है) वह सब भूतों की (हृदय की) गुफा में रहता है, वह भगवान् सबको घेरे हुए है, इस लिये वह सर्वगत (सर्वत्र उपस्थित) शिव है । ११ । वह पुरुष, महान् प्रभु हैं, वह सत्त्व * का प्रेरक है, वह हर एक पदार्थ में अपनी पुण्यतम प्राप्ति का मालिक है, वह ज्योति है, वह अव्यय (अविनाशि) है । १२ । † अंगूठा मात्र पुरुष सदा मनुष्यों के हृदय में रहता है, हृदय से, बुद्धि ‡ से और मन

---

* सत्त्व; जो नाम अस्तित्व (हस्ता) है ॥

† तैत्ति० आर० १० । ७१; कठ० ४ । १२-१३ ॥

‡ कठ ६ । ९ और श्वेत० उप० ६ । २० की तरह यहाँ भी 'मनीषा' पाठ शुद्ध है, उपनिषद् में यहां 'मन्वीशः' पाया जाता है, जिसका अर्थ शंकराचार्य ने ज्ञानेश लिया है, पर

से निश्चित होता है, जो इसको जान लेते हैं, वे अमृत होजाते हैं । १३ ।

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्वा अत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्
। १४ । पुरुष एवेदꣳ सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥१५॥

* वह पुरुष हजारों सिर, हजारों नेत्र, और हजारों पाओं वाला है, वह इस ब्रह्माण्ड को चारों ओर से घेर कर भी दस अंगुल उससे परे खड़ा है† ।१४। पुरुष ही यह सब कुछ है, जो हुआ है, और जो होगा ‡ वह अमृतत्व का भी

यह अप्रयुक्त शब्द मनीषा से ही किसी तरह बदलकर इस रूप में हो गया है ॥

* यह ऋचा ऋग्० १० । ९० । १, अथर्व० १९ । ६ । १, वाज० सं० ३१ । १; तैत्ति० आर० ३ । १२ । १ । यहां फिर विराट् रूप में परमात्मा का वर्णन है ॥

† अभिप्राय यह है कि वह ब्रह्माण्ड को घेर कर उस से परे भी है । शंकराचार्य ने दूसरे अर्थ में दशांगुल से हृदय लिया है, क्योंकि वह नाभि से दस अंगुल ऊपर है । अभिप्राय यह है, कि वह ब्रह्माण्ड को घेर कर हृदय में स्थित है ॥

‡ यह विराट् का वर्णन है, और यहां इस दृश्यमान समष्टि जगत् रूपी शरीर से परमात्मा को शरीरी ठहराया

मालिक है, और (उसका भी मालिक है) जो अन्न से बढ़ता है * ॥१५॥

सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् । सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१६॥ सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् । सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं बृहत् ॥१७॥

सब जगह उसके हाथ और पाओं हैं, सब जगह उसके नेत्र, सिर और मुख हैं, सब जगह उसके कान हैं, वह लोक में सबको घेर कर खड़ा है ।१६। सारे इन्द्रियों के गुणों से चमकता है, और सारे इन्द्रियों से रहित है, सबका प्रभु सब पर ईशन करने वाला है, सबका बड़ा शरण, (रक्षक, पनाह) है ॥१७॥

नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः । वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य ।१८।

है, इसलिये कहा है, जो हुआ है और होगा, वह पुरुष ही है ॥

* जो अन्न से बढ़ता है—संसार में भोग भोग रहा है । अर्थात् अमृतत्व (मुक्ति) का मालिक भी पुरुष है । और संसार का मालिक भी पुरुष है । मुक्ति और संसार दोनों उसकी आज्ञा में हैं, मुक्ति में अमृत और संसार में भोगों का दाता वही है ॥

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः । स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ।१९। अणोरणीयान् महतो महीयानात्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः । तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम् ।२०। वेदाहमेतमजरं पुराणं सर्वात्मानं सर्वगतं विभुत्वात् । जन्मनिरोधं प्रवदन्ति यस्य ब्रह्मवादिनो हि प्रवदन्ति नित्यम् ॥२१॥

यह पुर (देह) जिसके नौ द्वार * हैं, इसमें जो देह का मालिक हंस है, वह बाहर खेलता है, † सारे लोक को वश

---

* नौद्वार, देह के नौ छेद । सात छेद सिर के (दो आंख दो कान, दो नासा और मुख) और दो छेद नीचे के (मल मूत्र के त्याग के) देखो गीता ५ । १३ । कठ ५ । ११ में ११ द्वार कहे हैं, वहां नाभि और ब्रह्मरन्ध्र अधिक साथ मिला कर गिने गये हैं ॥

† हंस, परमात्मा, वह बाहर खेलता है, सारे विश्व में उसकी लीला है, यद्यपि वह सारे विश्व में खेल रहा है, पर उसके दर्शन हमें उसकी राजधानी में मिलते हैं, उसकी राजधानी देह है, और हृदय में उसका सिंहासन है ॥

में रखने वाला, स्थावर को भी और चर को भी । १८ । वह बिना हाथ के सबको पकड़े हुए है, बिना पाओं के वेगवाला है, बिना नेत्र के देखता है, बिना कान के सुनता है, वह हर एक जानने की वस्तु को जानता है, पर उसका कोई जानने वाला नहीं, उसको मुखिया और महान् पुरुष कहते हैं ।१९। ‡ सूक्ष्म से सूक्ष्मतर और महान् से महत्तर आत्मा इस जन्तु (जीव मात्र) की गुफा (हृदय) में छिपा हुआ है । वह मनुष्य जो शोक से पार होगया है, वह धाता (परमात्मा) की कृपा से उस महिमा (महान्) को देखता है, जो ईशन कर रहा है, और कामनाओं से रहित है ।२०। मैं इसको जानता हूं, जो अजर और पुराना है, सबका आत्मा है, और विभु है, इसलिये सर्वगत (सब जगह उपस्थित) है । उसके जन्म का अभाव बतलाते हैं, क्योंकि ब्रह्मवादी उसे नित्य बतलाते हैं ॥१२॥

चौथा अध्याय ।

चौथे अध्याय में प्रकृति, पुरुष और परमात्मा के स्वरूप और उनके परस्पर सम्बन्ध और बन्ध और मोक्ष का वर्णन करते हैं ॥

य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद् वर्णा-

---

‡ यह मन्त्र तैत्ति० आर० १० । १२ और कठ० २ । २० में भी है । पाठ 'अक्रतुम्' के स्थान 'अक्रतुः' और 'ईशम्' के स्थान 'आत्मा' है । तैत्ति० आर० ३ । १३ । १; १ । १२।७॥

नानेकान् निहितार्थो दधाति। विचैति चान्ते विश्वमादौ स देवः स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥१॥

जो बिना रंग के है, छिपे हुए प्रयोजन वाला * है, जो अकेला अनेक प्रकार की अपनी शक्ति के सम्बन्ध से अनेक रंगों † को उत्पन्न करता है, जो आदि में इस विश्व को मिलाता है, और अन्त में अलग २ कर देता है ‡, वह देव हमें शुभबुद्धि से संयुक्त करे ॥ १ ॥

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदापस्तत् प्रजापतिः ॥२॥

वही अग्नि है, वह सूर्य्य है, वह वायु है, वह चन्द्रमा है, वही शुक्र (चमकता हुआ, नक्षत्रादि) है, वह ब्रह्म (हिरण्यगर्भ) है, वह जल है, वह प्रजापति (विराट्) है § ॥२॥

---

* जो स्वार्थ से निरपेक्ष केवल परार्थ रचना करता है।

† भिन्न २ प्रकार की सृष्टि।

‡ 'विचैति चान्ते विश्वमादौ' श्रीशङ्कराचार्य्य ने इस 'आदौ' पद के अर्थ को पूर्वार्ध के साथ मिला दिया है, पर यहां की बनावट में यह पद अपने अर्थ को यहीं मिलाता हुआ प्रतीत होता है, ५। ११ में 'यस्मिन्निदं सं च विचैति सर्वम्' इसी अर्थ का संवादी है ॥

§ यहां शबल रूप में सर्वान्तर्यामी हो कर सब को शक्ति

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी । त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ॥ ३ ॥ नीलः पतङ्गो हरितो लोहिताक्षस्तडिद्गर्भ ऋतवः समुद्राः । अनादिमत्त्वं विभुत्वेन वर्तसे यतो जातानि भुवनानि विश्वा ॥ ४ ॥

* तू स्त्री है, तू पुरुष है, तू कुमार है, तू कुमारी है, तू बूढा हुआ डण्डे से चलता है, तू प्रकट हो कर सब ओर मुख

देता हुआ प्रकट किया है । (देखो उपनिषदों की शिक्षा, अध्याय १ पृष्ठ ११ से १२) ॥

* परमात्मा इस सारे जगत् का इतना बड़ा आश्रय है, कि इस का सर्वस्व वही है, अग्नि का अग्निपन उस के सहारे है, और सूर्य का सूर्यपन उसके सहारे है, इसी प्रकार यद्यपि हम अपनी इच्छा से चलते फिरते हैं, पर वस्तुतः हमारी सारी शक्तियां इसी के आश्रय हैं, 'हुकम बिना झूले नहीं पाता' वह हमारे नेत्र में देखने की शक्ति और कान में सुनने की शक्ति देता हुआ वर्तमान है, इसी लिए उसे नेत्र का नेत्र और श्रोत्र का श्रोत्र कहते हैं, इसी अभिप्राय से उसे कहा है वही अग्नि है, वही आदित्य है और इसी अभिप्राय से कहा है, 'तू स्त्री है, तू पुरुष है,' अभिप्राय यही है, कि इन की सारी निज शक्ति उस के आश्रित है । बृहदारण्यक ६ । १ में इसी

वाला होता है * ॥ ३ ॥ तू नीला भौंरा है, लाल नेत्रों वाला हरा तोता है, तू बिजली वाला मेघ है, तू ऋतुएं है, तू समुद्र है। तेरा कोई आदि नहीं, क्योंकि तू विभु है, तू ही है, जिस से सारे भुवन उत्पन्न हुए हैं ॥ ४ ॥

अब प्रकृति, उसका कार्य्य, और पुरुष का उसको भोगना और त्यागना दिखलाते हैं—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाम् । अजो ह्येको जुषमाणोऽनु शेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥५॥

एक अजा (अजन्मा स्त्री) है, जो लाल, श्वेत और काली है, समान रूप वाली है, और बहुत सी सन्तानों को उत्पन्न कर रही है । और एक अज (अजन्मा) पुरुष उसे

प्रकार की कल्पना से प्राण और इन्द्रियों का संवाद दिखला कर अन्त में यह प्रकट किया है, जब इन्द्रियों ने समझ लिया, कि हम प्राण के बिना किसी काम के नहीं, तो वाणी ने सब से अच्छा होने का अभिमान त्यागा और प्राण को कहा कि मैं जो सब से अच्छी हूं, वह तू ही है, इत्यादि। जैसे वहां प्राण और इन्द्रियों का भेद है, तथापि प्राण के आश्रित उन की महिमा दिखलाने के लिए वाणी आदि की महिमा प्राण में दिखलाई है, और प्रश्नोपनिषद् २ । ५-१३ में प्राण को सर्व रूप में प्रतिपादन किया है।

* यह ऋचा अथर्व १० । ८ । १२ की है।

प्यार करता हुआ उस के साथ सोता है, और दूसरा अज इसे छोड़ देता है, जब उसने इस के भोग भोग लिए हैं * ॥५॥

पर मुक्ति केवल प्रकृति के त्याग से नहीं, किन्तु प्रकृति को त्याग कर अपने साथी परमात्मा के दर्शन से होती है यह दिखलाते हैं—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते । तयो रन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यन-श्नन्न्यो अभिचाकशीति ॥ ६ ॥ समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नो ऽनीशया शोचति मुह्यमानः । जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीश मस्य महिमानमिति वीत-शोकः ॥ ७ ॥

दो पक्षी जो सदा साथ रहने वाले (कभी अलग न

---

* यहां अजा प्रकृति है, लाल श्वेत और कृष्ण तीन गुण अर्थात् रजस् सत्व और तमस् हैं, उस की प्रजा उस के कार्य हैं । पुरुष जब तक इस से प्यार करता है, तब तक इस के भोगों को भोगता है । जब उसे आत्मा प्रेमास्पद हो जाता है, तो यह इसे छोड़ देता है, यहां अजा और अज शब्द अजन्मा के अर्थ में है,जैसा कि पूर्व १ । ९ में है। अजा बकरी और अज बकरे के अर्थ में यहां नहीं, तथापि शब्दों का खेल दर्शन से इस अर्थ को प्रकाशित करता है ।

होने वाले) मित्र हैं, दोनों एक वृक्ष को आलिंगन किए हुए हैं, उन में से एक स्वादु फल खाता है और दूसरा न खाता हुआ (केवल) देखता (ही) है * ॥ ६ ॥ उसी वृक्ष पर पुरुष निमग्न हुआ (डूबा हुआ) असमर्थता (दुर्बलता, ज्ञान बल के अभाव) से धोखा खाता हुआ शोक में पड़ा है । जब उस प्रियतम दूसरे (साथी) ईश को देखता है और उस की महिमा को देखता है, तब वह शोक से पार हो जाता है † ॥ ७ ॥

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः । यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥८॥

ऋचाएं (सारी) उस अविनाशि परम आकाश (परमात्मा) में हैं (अर्थात् उस को प्रतिपादन करती हैं,) जिस में सारे देवता स्थित हैं, जो उसको 'नहीं जानता' वह ऋचा से क्या करेगा ? जो इस को जानते हैं, वही शान्ति से रहते हैं ‡ ॥ ८ ॥

---

* दो पक्षी, जीवात्मा और परमात्मा हैं । वृक्ष, शरीर है, जिस पर इन दोनों का घोंसला है, जीवात्मा इस में अपने कर्मों के फल भोगता है और परमात्मा उस को देखता है । मिलाओ ऋग् १० । १६४ । २ मुण्ड० ३ । १ । १ निरुक्त १४ । ३० कठ ३ । १ ।

† देखो मुण्डक ३ । १ । २

‡ ऋग् १ । १६४ । ३९; यह ऋचा तैत्ति० आ० २।२ ६

छन्दांसि यज्ञः क्रतवो व्रतानि भूतं भव्यं यच्च वेदा वदन्ति । अस्मान्मायी सृजते विश्व-मेतत् तस्मिँश्चान्यो मायया संनिरुद्धः । ९ । मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् । तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ।१०।

छन्द यज्ञ (हविर्यज्ञ) क्रतु (ज्योतिष्टोमादि,) व्रत, भूत, भविष्यत् और जो कुछ और वेद बतलाते हैं इस सब को माया का मालिक (मायी) इस से रचता है, और उस में दूसरा (पुरुष) माया से रुका (बन्धा) है । प्रकृति को माया जानो और महेश्वर को मायी, सारा विश्व उस (मायी, माया शवल) के अंगों से व्याप्त है ॥ १७ ॥

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको यस्मिन्निदं सं च विचैति सर्वम् । तमीशानं वरदं देवमीड्यं निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति ॥ ११ ॥

जो अकेला ही हर एक योनि (कारण) का अधिष्ठाता है, जिस में यह सब मिल जाता है (प्रलयकाल में) और फिर अलग २ होता है, उस मालिक, वरों के दाता, पूजा के योग्य, देव को जान कर सदा की शान्ति को प्राप्त होता है ॥

और नृसिंह पूर्वतापिनी ४ । २; ५ । २ में ओम् अक्षर के प्रकरण में आई है ।

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः । हिरण्यगर्भं पश्यत जायमानं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥१२॥ यो देवानामधिपो यस्मिँल्लोका अधिश्रिताः । य ईशेऽस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥१३॥

* जो देवों का उत्पन्न करने वाला, और रक्षा करने वाला है, रुद्र, महर्षि (बड़ा देखने वाला) सब का मालिक है, जिस ने प्रकट होते हुए हिरण्यगर्भ को देखा, वह हमें शुभ बुद्धि से युक्त करे, ॥१२॥ हम किस देव को हवि से पूजा करें? उस को, जो देवों का अधिपति है, जिस में सब लोक आश्रय लिये हैं, जो दोपाए और चौपाए पर ईशन करता है ॥१३॥

सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टार मनेकरूपम् । विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति ॥१४॥

जो सूक्ष्म से अतिसूक्ष्म, कलिल (गहनगभीर संसार) के मध्य में, विश्व का बनाने वाला, अनेक रूपों वाला, अकेला सारे विश्व को घेरने वाला है, उस शिव को जान कर अत्यन्त शान्ति को प्राप्त होता है ॥१४॥

---

* देखो पूर्व ३ । ४ ।

स एव काले भुवनस्यास्य गोप्ता विश्वाधिपः सर्वभूतेषु गूढः । यस्मिन् युक्ता ब्रह्मर्षयो देवताश्च तमेवं ज्ञात्वा मृत्युपाशांश्छिनत्ति ।१५। घृतात्परं मण्डमिवातिसूक्ष्मं ज्ञात्वा शिवं सर्वभूतेषु गूढम् । विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥१६॥

वही समय पर इस भुवन का रक्षक होता है, सब का मालिक सब भूतों में छिपा हुआ, जिस में ब्रह्मर्षि और देवता युक्त हुए हैं, जो उस को जान लेता है वह मृत्यु की फांसों को काट देता है।१५। वह शिव जो घृत से परे मण्ड * की तरह अतिसूक्ष्म है, सब भूतों में छिपा हुआ है, सारे विश्व को अकेला घेरने वाला है, उस देव को जानकर सारी फांसों से छूट जाता है ॥१६॥

एष देवो विश्वकर्मा महात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः । हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ १७ ॥ यदा-

* मण्ड, कुप्पे में घी का कुछ हिस्सा जो ऊपर २ पतला होता है, पंजाबी में जिस को पंग बोलते हैं, वह घी का भी सार होता है, जैसे दूध की मलाई ।

ऽतमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्नचासच्छिव एव केवलः। तदक्षरं तत्सवितुर्वरेण्यं प्रज्ञा च तस्मात् प्रसृता पुराणी ॥१८॥

वह देव, सब का बनाने वाला, महान् आत्मा, सदा मनुष्यों के हृदय में रहता है, वह हृदय से, बुद्धि से, मन से * प्रकाशित होता है, जो इस को जानते हैं, वे अमृत हो जाते हैं। १७। जब प्रकाश † उदय होता है, तो वहां न दिन, न रात है, न व्यक्त, न अव्यक्त है; वहां केवल शिव है। वह अविनाशि है, वह सविता का पूजा के योग्य प्रकाश ‡ है, सनातन प्रज्ञा (वेद का ज्ञान) उससे फैली है। १८।

नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परिजग्रभत्। न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः ।१९। न संदृशेतिष्ठतिरूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चैननम्। हृदा हृदिस्थं मनसा य एनमेवंविदुरमृतास्ते भवन्ति ।२०।

---

* श्रद्धा भक्ति, विवेक, और ध्यान इन के मेल से प्रकट होता है देखो पूर्व ३। १३।

† अतमः, न अन्धेरा अर्थात् ज्ञान का प्रकाश।

‡ गायत्री मन्त्र। ऋग्० ३। ६२। १० की छाया इस मन्त्र में है, और देखो श्वेता० उप० ५। ४॥

* न उसे कोई ऊपर से पकड़ सक्ता है, न तिरछा, न मध्य में । उसकी कोई प्रतिमा (मूर्ति, वा तुलना) नहीं है, जिस का नाम महद् (बड़ा) यश है । १९ । न कोई इस का रूप (आकार) देखा जाने के लिये हैं, न कोई नेत्र से उसे देख सकता है । जो उस को हृदय से और मन से हृदय में स्थित देखते हैं, वे अमृत हो जाते हैं । २० ।

अध्याय की समाप्ति में अपनी और अपनों की, रक्षा के लिये रुद्र से प्रार्थना करते हैं—

अजात इत्येवं कश्चिद्भीरुः प्रतिपद्यते ।
रुद्र यत्ते दक्षिणं मुखं तेन मां पाहि नित्यम् ।२१।
मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः । वीरान् मा नो रुद्र भामितोऽवधीर्हविष्मन्तः सदमित्त्वा हवामहे ॥२२॥

'तू अजन्मा है' ऐसा कहता हुआ कोई पुरुष कांपता हुआ तेरी शरण में आता है । हे रुद्र जो तेरा उत्साह देने वाला मुख † (चेहरा) है, उससे मेरी सदा रक्षा कर २१। ‡ हे

---

* इस मंत्र का पूर्वार्ध यजु० ३२ । २ का उत्तरार्ध है, और इसका उत्तरार्ध यजु ३२ । ३ का पूर्वार्ध है ॥

† ध्यान किया हुआ प्रसन्न करने वाला है ।

‡ यह ऋचा, ऋग्वेद १।११४।८; वाज० सं० १६।१६ की है । पाठ में यह भेद है, कि 'आयुषि' की जगह ऋग्वेद मे

रुद्र ! न हमारी सन्तान में न उस से अगली सन्तान (पोते आदि) में हानि पहुंचाओ, न हमारी आयु में, न हमारी गौओं में, न हमारे घोड़ों में हानि पहुंचाओ। हे रुद्र ! क्रोध में हमारे वीरों को न मारो, हम हवि लेकर सदा तुम्हें बुलाते हैं ॥२२॥

पांचवां अध्याय।

इस अध्याय में परमात्मा का अधिष्ठातृत्व और जीवात्मा का स्वरूप वर्णन करते हैं—

द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये विहिते यत्र गूढे। क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः ॥१॥

परब्रह्म, जो अविनाशि, अनन्त और (सब भूतों में) गूढ़ है उस में विद्या (उपासना) और अविद्या (कर्म) दोनों

'आर्यो' है, 'भामितः' की जगह वाजसनेय में 'भामिनः' पाठ है, और सब में 'भामितः' है। यहां उपनिषद् में जो 'भावितः' पाठ मिलता है, वह लेखक प्रमाद से है। चौथा पाद ऋग्वेद में 'हविष्मन्तः सदमित्त्वा हवामहे' है, वाजसनेय संहिता में भी ऐसा ही है, तैत्तिरीय में 'हविष्मन्तो नमसा विधेमते' है, यहां उपनिषद् में 'हविष्मन्तः सदसि त्वा हवामहे' है, शङ्करानन्द और विज्ञानात्मा ने अपनी व्याख्या में 'सदमित्त्वा' ही माना है॥

स्थापित हैं, * इन में से अविद्या (कर्म) नाश होने वाली है, पर विद्या (उपासना) अमृत है, वह जो विद्या और अविद्या पर ईशन कर रहा है, वह इन से अलग है ॥१॥

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको विश्वानि रूपाणि योनीश्च सर्वाः । ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानञ्च पश्येत् ॥२॥

जो अकेला हर एक योनि पर निरीक्षण (निगहबानी) करता है, सब रूपों (आकारों) पर, और सब योनियों पर, जो पहले उत्पन्न हुए कपिल ऋषि को ज्ञानों से भर देता है, और उत्पन्न होते हुए पर दृष्टि डालता है ॥ २ ॥

एकैकं जालं बहुधा विकुर्वन्नास्मिन् क्षेत्रे संहरत्येष देवः । भूयः सृष्ट्वा यतयस्तथेशः सर्वाधिपत्यं कुरुते महात्मा ॥ ३ ॥ सर्वा दिश ऊर्ध्वमधश्च तिर्यक् प्रकाशयन् भ्राजते यद्वनड्वान् । एवं स देवो भगवान् वरेण्यो योनिस्वभावानधितिष्ठत्येकः ॥४॥

---

* कर्म और उपासना दोनों का परम तात्पर्य ब्रह्म की प्राप्ति है । अविद्या कर्म और विद्या उपासना (देखो॰ ईश ९--११)

यह देव एक एक जाल को * इस क्षेत्र (लोक) में अनेक प्रकार से फैलाता हुआ फिर समेट लेता है, इसी प्रकार वह महान् आत्मा ईश है यतियो ! बार २ रचकर सब पर ईशन करता है ॥३॥ जैसे सूर्य्य सारी दिशाओं में, ऊपर, नीचे और तिरछा प्रकाश देता हुआ चमकता है, इस प्रकार वह पूजनीय, भगवान्, देव, अकेला भिन्न २ योनियों के स्वभावों पर निरीक्षण करता है ॥ ४ ॥

यच्च स्वभावं पचति विश्वयोनिःपाच्यांश्च सर्वान् परिणामयेद्यः । सर्वमेतद्विश्वमधितिष्ठ-त्येको गुणांश्च सर्वान् विनियोजयेद्यः ॥ ५ ॥ तद् वेदगुह्योपनिषत्सु गूढं तद् ब्रह्मा वेदते ब्रह्मयोनिम् । ये पूर्वं देवा ऋषयश्च तद्विदुस्ते तन्मया अमृता वै बभूवुः ॥६॥

जो विश्वयोनि (सब का जन्मस्थान) (योनि योनि के) स्वभाव को पकाता है (दृढ़ करता है) और जो पकने योग्य है † उन को बदलता रहता है, जो अकेला एक एक पर और सब पर निरीक्षण करता है, और जो सारे गुणों को विनियुक्त

* मनुष्य पशुआदि के शरीर का।

† धीरे २ परिणत होते हुए उच्च अवस्था में आने योग्य हैं। 'पाच्यान्' की जगह 'प्राच्यान्' पाठ भी मिलता है, अर्थ पहले उत्पन्न हुओं को धीरे २ परिणत करता है ॥

करता है (काम में लगाता है, प्रजा के भोग के उपयोगी बनाता है) ॥५॥ वह वेद के गुह्य रहस्यों में छिपा हुआ है, वह जो ब्रह्म का कारण है, उस को वह जान पाता है, जो सच्चा ब्राह्मण है, पहिले जिन ऋषियों और देवताओं ने उस को जाना, वह तन्मय (उसी के रंग में रंगे हुए) होकर अमृत होगए ॥ ६ ॥

अब छः मंत्रों से जीवात्मा का वर्णन करते हैं—

गुणान्वयो यः फलकर्मकर्ता कृतस्य तस्यैव सचोपभोक्ता । स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा प्राणाधिपः सञ्चरति स्वकर्मभिः ॥७॥ अङ्गुष्ठ-मात्रो रवितुल्यरूपः संकल्पाहङ्कारसमन्वितो यः । बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यपरोपि दृष्टः ॥८॥

पर वह (अपर, जीवात्मा) जो (वासनाओं) से युक्त है, फल वाले कर्मों का करने वाला है, और किए हुए उस (कर्म) का ही फल भोगने वाला है, वह सारे रूपों (देहों) वाला, तीन गुणों वाला, तीन मार्गों वाला, * प्राणों का

---

* तीन गुण, सत्व, रजस् तमस्; देहधारियों के स्वभाव इन तीनों गुणों के अनुसार सत्वगुणी, रजोगुणी और तमोगुणी होते हैं। और तीन मार्ग धर्म, अधर्म ज्ञान (शुक्ल, कृष्ण और अधोगति)।

मालिक अपने कर्मों से घूमता है। ७। वह जीवात्मा (अपर) जो आर का अग्रमात्र है, वह मन के गुण से अंगूठामात्र और सूर्य्य के तुल्य चमकता हुआ और संकल्प और अहङ्कार से युक्त देखा गया है * ॥ ८॥

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः सचानन्त्याय कल्पते॥९॥ नैव स्त्री न पुमानेष नचैवायं नपुंसकः। यद्य-च्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते॥१०॥

बाल की नोक का जो सवां भाग है, वह सौ टुकड़े किया हुआ, उस का एक हिस्सा (अतीव सूक्ष्म) जीव को जानना चाहिये। और वह अनन्तता के लिए समर्थ होता है। ९। न यह स्त्री है, न पुरुष है, और न ही नपुंसक है, जिस २ शरीर को ग्रहण करता है, उस २ के साथ वह सम्बद्ध होता है॥ १०॥

संकल्पनस्पर्शनदृष्टिमोहैर्ग्रासाम्बुवृष्ट्याऽऽत्म

---

* आर, चाबुक का पतला सिरा, आराग्रमात्र, चाबुक के सिरे का बिन्दुमात्र। स्वयं एक बिन्दुमात्र है, पर हृदय-देश में लिङ्ग शरीर के साथ अंगूठामात्र प्रतीत होता है और संकल्पों से युक्त होजाता है, अपने निजधर्म को लेकर वह रवितुल्य अर्थात् चैतन्य रूप और अहङ्कार (अस्मिता, मैं हूं) वाला प्रतीत होता है॥

विवृद्धजन्म। कर्मानुगान्यनुक्रमेण देही स्थानेषु रूपाण्यभिसम्प्रपद्यते ॥११॥ स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि चैव रूपाणि देही स्वगुणैर्वृणोति। क्रियागणैरात्मगणैश्च तेषां संयोगहेतुरपरोऽपि दृष्टः॥१२

संकल्प, छूना, देखना और मिथ्याज्ञान के द्वारा यह देही (जीव) भिन्न २ स्थानों में कर्मों के अनुसार रूपों (देहों) को क्रम से प्राप्त होता है, जैसे अन्न और जल से शरीर की वृद्धि होती है * । ११ । देहधारी (आत्मा) अपने गुणों से स्थूल और सूक्ष्म बहुत से रूपों (आकारों) को चुनता है, और अपने कर्मों के धर्मों (असरों) से और आत्मा के धर्मों (इच्छा आदि) से उन (आकारों) के साथ अपने संयोग का हेतु होकर भिन्न २ दीखता है ॥ १२ ॥

जीवात्मा का स्वरूप और उसका संसार में घूमना वर्णन करके उसकी मुक्ति का उपाय बतलाते हैं:—

अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम् । विश्वस्यैकं परिवेष्ठितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ।१३। भावग्राह्यमनीडाख्यं

---

* शंकराचार्य के अनुसार अर्थ दे दिया है, यह वचन स्पष्ट नहीं, पाठ भी कई प्रकार का मिलता है ॥

भावाभावकरं शिवम् । कलासर्गकरं देवं ये विदुस्ते जहुस्तनुम् ॥१४॥

* जिस का न आदि है न अन्त है, जो इस गहन गभीर (जगत्) के मध्य में, सारे विश्व का रचने वाला, अनेक रूपों वाला, अकेला सब का घेरने वाला है, उस देव को जान कर सारी फांसों से छूट जाता है। १३। जो भावना (श्रद्धा, भक्ति) से ग्रहण किया जाता है, जो निराधार कहलाता है, जो सृष्टि और प्रलय का करने वाला है, शिव (कल्याणरूप) है कलाओं † का रचने वाला है, जो उस देव को जानते हैं, वे शरीर को छोड़ देते हैं॥ १४॥

छटा अध्याय ।

इस अन्तिम अध्याय में स्वभाव आदि को जगत् का कारण मानने वालों का व्यामोह दिखलाते हुए ईश्वर की महिमा की पूणता दिखलाते हैं।

स्वभाव मेके कवयो वदन्ति कालं तथाऽन्ये परिमुह्यमानाः । देवस्यैष महिमा तु लोके येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम् ।१। येनावृतं नित्यमिदं हि

---

* मिलाओ ३। ७; ४। १४, १६।

† कलाएं, प्रश्नोपनिषद् (६। ४) में कही सोलह कलाएं— प्राण; श्रद्धा, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, इन्द्रिय, मन, अन्न वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, काल, नाम ।

सर्वज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः । तेनेशितं कर्म विवर्तते ह पृथिव्याप्यतेजोऽनिलखानि चिन्त्यम् ॥२॥

कई विद्वान् धोखा खाते हुए स्वभाव को, और दूसरे काल को (हर एक कार्य का कारण) बतलाते हैं *, पर लोक में यह महिमा देव की है, जिस से यह ब्रह्मचक्र घुमाया जा रहा है। १। जिस से यह सब सदा घिरा हुआ है, जो जानने वाला, काल का काल, † गुणों से और सारी विद्याओं से युक्त है, उस से ईशन किया हुआ यह कार्य (सृष्टि) भिन्न रूपों में बदलता है, जो पृथिवी, जल, तेज वायु; और आकाश कहलाता है। २।

तत् कर्म कृत्वा विनिवर्त्य भूयस्तत्वस्य तत्वेन समेत्य योगम् । एकेन द्वाभ्यां त्रिभिरष्टभिर्वा कालेन चैवात्मगुणैश्च सूक्ष्मैः ।३। आरभ्य कर्माणि गुणान्वितानि भावांश्च सर्वान् विनियोजयेद्यः । तेषामभावे कृतकर्मनाशः कर्मक्षये याति स तत्वतोऽन्यः ॥४॥

उस कर्म को करके और फिर हट कर एक तत्व

*देखो पूर्व ।१।२॥ † काल का भी नाशक, देखो आगे १६

(चेतन) को दूसरे तत्त्व (जड़) के साथ मिलाकर—अर्थात् एक, दो, तीन और आठ के साथ * काल के साथ और मन के सूक्ष्म गुणों के साथ मिला कर, । १ । जो (तीन) गुणों वाले कार्यों को आरम्भ करके सारे भावों को अपने २ काम में लगाता है, और जब उन का अभाव होता है, तो पहले की हुई रचना का नाश होता है, रचना जब नाश होगई है, तौ भी वह अपने स्वरूप से वर्तमान रहता है जो (इन सब से) भिन्न है ॥ ४ ।'

आदिः स संयोगनिमित्तहेतुः परस्त्रिकाला दकलोपिदृष्टः । तं विश्वरूपं भवभूतमीड्यं देवं स्वचित्तस्थमुपास्य पूर्वम् ।५। सवृक्षकालाकृतिभिः परोऽन्यो यस्मात् प्रपञ्चः परिवर्ततेऽयम् । धर्मावहं पापनुदं भगेशं ज्ञात्वात्मस्थममृतं विश्वधाम ।६। तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम् । पतिं पतीनां परमं परस्ताद्विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥७॥

वह आदि है, संयोग के कारणों का कारण है, तीनों

* एक, अविद्या; दो सत्य, असत्य; तीन, सत्व, रजस्, तमस्; आठ, पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहङ्कार (शङ्करानन्द) ।

कालों से परे, बिना अवयवों के देखा गया है, उस, अनेक रूपों वाले, और (सब वस्तुओं के) सच्चे प्रभव, अपने चित्त में स्थित, पूजा के योग्य देव को पहले उपास कर; । ५ । वह जो (संसार) वृक्ष * के और काल के आकारों से परे, इन से न्यारा है, जिस से यह सारा प्रपञ्च घूमता है, उस, धर्म के लाने वाले और पाप से हटाने वाले, ऐश्वर्य के मालिक; सब के आश्रय, अमृत को अपने आत्मा में स्थित जानकर, । ६ । उस, ईश्वर के परम ईश्वर, देवताओं के परमदेवता, पतियों के परमपति, परे से परे, भुवन के मालिक, पूजा के योग्य देव को ढूंढ पाए ॥ ७ ॥

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्सम-श्चाभ्यधिकश्च दृश्यते। पराऽस्य शक्तिर्विविधैव-श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च । ८ । न तस्य कश्चित् पतिरस्ति लोके नचेशिता नैव च तस्य लिङ्गम् । स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः ॥९॥

न उस का शरीर और इन्द्रिय हैं, न उस से कोई बढ़ कर, न उस के बराबर दीखता है, इस की परा (ऊंची) शक्ति अनेक प्रकार की सुनी जाती है † उस में ज्ञान और

---

* संसार वृक्ष का वर्णन कठ० ६ । १ में है ॥

† सुनी जाती है, श्रुति द्वारा जानी गई है ।

बल की शक्ति स्वाभाविक है † ।८। लोक में कोई उस का पति नहीं है. न उस पर ईशन करने वाला, और न ही कोई उस का चिन्ह है, वह कारण है, इन्द्रियों के मालिकों का मालिक है ‡ उसका न कोई मा बाप हैं, न मालिक है ॥ ६ ॥

यस्तन्तुनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतो देव एकः स्वमावृणोत् । स नो दधाद् ब्रह्माप्ययम् ॥ १० ॥

वह अकेला देव जो मकड़ी की नाईं प्रधान (मूल प्रकृति) से उत्पन्न होने वाले तन्तुओं (कार्यों) से स्वभावतः अपने आप को घेर लेता है § वह हमें ब्रह्म में लय [समाधि] देवे ॥ १० ॥

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा । कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ।११। एको वशी

---

† वह स्वभाव से सब को जानता है, और स्वभाव से सब को वश में रखे हुए है।

‡ इन्द्रियों के मालिक, सारे जीवात्मा, उन सब का भी मालिक है ।

§ जो कुछ उस ने रचा है, उसी के परदे में वह आप छिपा हुआ है ।

निष्क्रियाणां बहूनामेकं बीजं बहुधा यः करोति। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥१२॥

वह एक देव है, सब भूतों में छिपा हुआ है, सर्व-व्यापक, सब भूतों का अन्तरात्मा (अन्तर्यामी आत्मा) कर्मों का अधिष्ठाता, सब भूतों में रहने वाला, सब का साक्षी, चेतन, केवल (एकतत्त्व) और निर्गुण (सत्त्व, रजस् तमस् इन गुणों से अलग) है ॥ ११ ॥ * वह अकेला उन बहुतों को वश में रखने वाला है, जो स्वाभाविक क्रिया वाले नहीं † हैं, वह एक बीज (प्रकृति) को अनेक प्रकार का बना देता है। जो धीर पुरुष उस को आत्मा में स्थित देखते हैं, उन को सदा सुख होता है, दूसरों को नहीं ॥ १२ ॥

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्। तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥१३॥ न तत्र

---

* देखो कठ० उप० ५ । १२—१५ ॥

† जड़ पदार्थ क्रिया करते हुए भी वस्तुतः निष्क्रिय हैं, क्योंकि वह स्वभावतः नहीं, किन्तु उसी के बल से परिचालित होकर क्रिया करते हैं ॥ निष्क्रिय = जीव, क्योंकि प्राणियों की सारी क्रियाएं देह और इन्द्रियों में समवेत हैं, आत्मा में नहीं (शंकराचार्य)

सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनु भाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥१४॥

नित्यों का नित्य, चेतनों का चेतन, जो अकेला ही बहुतों की कामनाओं को रचता है, उस देव को जो, कारण है, और सांख्य और योग से जानने योग्य है, जानकर सारी फांसों से छूट जाता हैं। १३। * वहां न सूर्य चमकता है, न चन्द्र और तारे, न वहां बिजलियें चमकती हैं, यह अग्नि तो क्या! उसी के चमकने के साथ यह सब चमकता है, उस के प्रकाश से यह सब चमकता हैं॥ १४॥

एको हंसो भुवनस्यास्य मध्ये स एवाग्निः सलिले सन्निविष्टः। तमेव विदित्वाऽतिमृत्यु मेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।१५। सविश्वकृद् विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञः कालकालो गुणी सर्ववि- द्यः। प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः संसारमोक्षस्थिति बन्धहेतुः ॥१६॥

एक हंस इस सारे भुवन के मध्य में है। वही अग्नि होकर जल में प्रविष्ट है, उसी को जानकर मृत्यु से पार

* देखो कठ० ५।२।१५; मुण्डक २।२।१०, गीता १५। ६।

होता है, और कोई मार्ग चलने के लिए नहीं है, ॥ १५ ॥ वह सब को बनाने वाला, सब का जानने वाला है, आत्मयोनि (स्वयम्भू,) चेतन, काल का काल [काल का नाश करने वाला] गुणों से युक्त, सारी विद्याओं से युक्त, प्रकृति का और जीवात्मा का मालिक, [तीनों] गुणों का मालिक संसार के बन्ध, स्थिति और मोक्ष * का कारण है ॥ १६ ॥

स तन्मयो ह्यमृत ईशसंस्थो ज्ञः सर्वगो भुवनस्यास्य गोप्ता। य ईशे अस्य जगतो नित्यमेव नान्यो हेतुर्विद्यत ईशनाय ॥१७॥

वह तन्मय † अमृत है, ईश की मर्यादा वाला ‡, जानने वाला, सब जगह पहुंचा हुआ, इस सारे भुवन का रक्षक है, सदा इस जगत् पर ईशन करता है, क्योंकि और कोई हेतु (इस जगत् पर) ईशन करने के योग्य नहीं है ॥ १७ ॥

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै। तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरण महं प्रपद्ये ॥१८॥

जो पहले ब्रह्मा § को बनाता है, और जो वेदों को उस के लिए भेजता है, जो आत्मविद्या का प्रकाश करने वाला है,

---

* उत्पत्ति, स्थिति, और प्रलय अथवा बन्धमोक्ष और रक्षा।

† तन्मय तद्रूप; एकही तत्त्व, विज्ञान घन।

‡ इस जगत् पर ईशन करने वाले, पवित्र आत्मा में जो मर्यादा सजती हैं, वह उस में पाई जाती हैं।

§ ब्रह्मा, हिरण्यगर्भ, महत्तत्त्व का अधिष्ठाता बन कर

मुक्ति को चाहता हुआ मैं, उस देव की शरण लेता हूं ॥ १८ ॥

निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम् ।
अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धन मिवानलम् ॥१९॥

जो निरवयव, निश्चल, शान्त, निर्दोष और निर्लेप है अमृतत्व का परला सेतु (=पुल) है–जिस का इन्धन जल चुका हो ऐसी अग्नि की नाईं (शुद्ध, ज्योतिर्मय) है * ।१९।

दुःख की समाप्ति परमात्मा के जाने बिना कभी नहीं होती यह दिखलाते हैं ॥

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः ।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ।२०।

जब लोग चर्म की नाईं आकाश को लपेट सकेंगे, तब देव के जाने बिना दुःख का अन्त होगा † ॥ २० ॥

महतत्त्व के साथ शबल रूप में हिरण्यगर्भ कहलाता है. और महतत्त्व ही व्यष्टिरूप में बुद्धितत्व है, सो ऋषियों की बुद्धि में वेदों का प्रकाश हिरण्यगर्भ से आया है, जैसा कि मुण्डक [१ । १] में भी कहा है। और हिरण्यगर्भ में यह प्रकाश शुद्धब्रह्म से आया है।

* यह शुद्ध का वर्णन है, जिस से वेद का प्रकाश शबल में प्रकाशित होता है।

† हृदय में परमात्मा को ढूंढे बिना दुःख का अन्त होना असम्भव है, जैसे आकाश का लपेटना ।

समाप्ति में यह दिखलाते हैं कि पहले यह विद्या किस ने किन को उपदेश की है और अब इस के उपदेश के अधिकारी कौन हैं ॥

तपः प्रभावाद् देवप्रसादाच्च ब्रह्म ह श्वेताश्वरोऽथविद्वान् । अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं प्रोवाच सम्यगृषिसङ्घजुष्टम् ॥२१॥

तप के प्रभाव से और परमात्मा की कृपा से ज्ञानी श्वेताश्वतर ने ऋषियों के संघ से प्यार किया हुआ यह परमपवित्र ब्रह्म [वेद, वेद का रहस्य] संन्यासियों को ठीककर उपदेश दिया ॥ २१ ॥

वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम् । नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्रायाशिष्याय वा पुनः ॥२२॥ यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ । तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥२३॥

यह, वेदान्त में परम रहस्य, जो पहले समय में उपदेश किया गया हैं, यह किसी ऐसे पुरुष को नहीं देना चाहिए, जो पूरा शान्त नहीं है, और न पुत्र है, न शिष्य है ॥ २२ ॥ यह विषय जो यहां बतलाए हैं, उस महापुरुष को प्रकाशित होते हैं, जिस की देव [परमात्मा] में परमभक्ति है । और जैसी देव में है, वैसी गुरु में है ॥ २३ ॥

सूचीपत्र

संस्कृत के अनमोल रत्न

अर्थात् वेदों, उपनिषदों, दर्शनों, धर्मशास्त्रों और इतिहास ग्रन्थों के शुद्ध, सरल और प्रामाणिक भाषा अनुवाद।

ये भाषानुवाद पं० राजाराम जी प्रोफैसर डी० ए० वी० कालेज लाहौर के किये ऐसे बढ़िया हैं, कि इन पर गवर्नमैन्ट और यूनीवर्सिटी से पं० जी को बहुत से इनाम मिले हैं। योग्य २ विद्वानों और समाचारपत्रों ने भी इनकी बहुत बड़ी प्रशंसा की है। इन प्राचीन माननीय ग्रन्थों को पढ़ो और जन्म सफल करो॥

(१) श्री वाल्मीकि रामायण—भाषा टीका समेत। वाल्मीकि कृत मूल श्लोकों के साथ २ श्लोकवार भाषा टीका है। टीका बड़ी सरल है। इस पर ७००) इनाम मिला है। भाषा टीका समेत इतने बड़े ग्रन्थ का मूल्य केवल ६।)

(२) महाभारत-इस की भी टीका रामायण के तुल्य ही है। दो भागों में छपा है। प्रथम भाग ६॥) द्वितीयभाग ६।) दोनों भाग १२)

(५) भगवद्गीता-पद पद का अर्थ, अन्वयार्थ और व्याख्यान समेत। भाषा बड़ी सुपाठ्य और सुबोध। इस पर ३००) इनाम मिला है। मूल्य २।), गीता हमें क्या सिखलाती है मूल्य ।–)

गीता गुटका —सरल भाषा टीका समेत ॥)

(६) ११ उपनिषदें—भाषा भाष्य सहित—

१-ईश उपनिषद	≡)
२-केन उपनिषद	≡)
३-कठ उपनिषद	।≡)
४-प्रश्न उपनिषद	–)
५,६-मुण्डक और माण्डूक्य दोनों इकट्ठी	।=)
७-तैत्तिरीय उपनिषद	॥)
८-ऐतरेय उपनिषद	≡)
९-छान्दोग्य उपनिषद	२)
१०-बृहदारण्यक उपनिषद	२।)
११-श्वेताश्वतर उपनिषद	।–)

(७) मनुस्मृति—मनुस्मृति पर टीकायें तो बहुत हुई हैं, पर यह टीका अपने ढंग में सब से बढ़ गई है। क्योंकि एक तो संस्कृत की सारी पुरानी टीकाओं के भिन्न २ अर्थ इस में दे दिये हैं। दूसरा इसका हर एक विषय दूसरी स्मृतियों में जहां २ आया है, सारे पते दे दिये हैं। तिस पर भी मूल्य केवल ३।) है।

(८) निरुक्त—इस पर भी २००) इनाम मिला है ४॥)

९—योगदर्शन	१॥)	१७—दिव्य जीवन	१)
१०—वेदान्त दर्शन	४)	१८—आर्य पञ्चमहायज्ञ पद्धति	।–)
११—वैशेषिक दर्शन	१॥)	१९—स्वाध्याय यज्ञ	१)
१२—सांख्य शास्त्र के तीन प्राचीन ग्रन्थ	॥)	२०—वेदोपदेश	१)
१३—नवदर्शन संग्रह	१।)	२१—वैदिक स्तुति प्रार्थना	=)
१४—आर्य-दर्शन	१॥)	२२—पारस्कर गृह्यसूत्र	१॥।)
१५—न्याय प्रवेशिका	॥=)	२३—बाल व्याकरण, इस पर २००) इनाम मिला है	॥)
१६—आर्य-जीवन	१॥)	२४—सफल जीवन	॥)
		२५—प्रार्थना पुस्तक	–)॥

२६—वात्स्यायन भाष्य सहित न्याय दर्शन भाष्य ४)

२७—नल दमयन्ती—नल और दमयन्ती के अद्वितीय प्रेम, विवाह विपद् तथा दमयन्ती के धैर्य कष्ट और पातिव्रत्य का वर्णन।)

वेद और महाभारत के उपदेश	–)॥	वेद मनु, और गीता के उपदेश	–)॥
वेद और रामायण के उपदेश	–)॥	वैदिक आदर्श	)॥
अथर्ववेद का निघण्टु	॥=)	हिन्दी गुरुमुखी	–)
सामवेद के क्षुद्र सूत्र	॥)	पञ्जाबी संस्कृत शब्दशास्त्र	।=)

शंकराचार्य का जीवन चरित्र और उन के शास्त्रार्थ, तथा कुमारिल-भट्ट का जीवन चरित्र ॥।) औशनस धनुर्वेद ।) उपदेश सप्तक ॥–)

नोट—कार्यालय की इन अपनी पुस्तकों के सिवाय और भी सब प्रकार की पुस्तकें रिआयत से भेजी जाती हैं॥

मैनेजर—आर्षग्रन्थावलि, लाहौर।

ऐतरेय उपनिषद्

पं० राजाराम प्रोफ़ैसर डी. ए. वी. कालेज लाहौर प्रणीत

सरल हिन्दी भाष्य समेत

सँव्वत् १९८१ विक्रम ।

बाम्बे मैशीन प्रेस लाहौर में मैनेजर शरत्चन्द्र लखनपाल के प्रबन्ध से छपा ।

चौथीवार १५००] [मूल्य ≡)

ऐतरेयोपनिषद्

पहला अध्याय—पहला खण्ड

ऐतरेय उपनिषद्-एतरेय आरण्यक के अन्तर्गत है। ऐतरेय ब्राह्मण और ऐतरेयारण्यक दोनों महिदास ऐतरेय ऋषि के नाम पर हैं। छान्दोग्य उपनिषद् (३। १६। ७) में लिखा है, कि महिदास ऐतरेय ११६ वर्ष जीता रहा। इस ऋषि के विषय में हम अधिक परिचय ऐतरेय ब्राह्मण की भूमिका में देंगे। ऐतरेयारण्यक में पांच आरण्यक हैं। जिन में से चौथा और पांचवां आरण्यक, आरण्यक का असली हिस्सा नहीं, किन्तु वह दोनों आरण्यक आश्वलायन और शौनक ऋषि के सूत्र हैं, जो इस आरण्यक के साथ पढ़ाए जाते थे, और अब वे आरण्यक का एक हिस्सा ही बन गए हैं। पहले आरण्यक में महाव्रत सत्र में जो होता का कर्तव्य है, वह बतलाया है। दूसरा और तीसरा आरण्यक उपनिषद् भाग है। इस में तीन उपनिषद् हैं। दूसरे आरण्यक के पहले अध्याय से लेकर तीसरे तक प्राणविद्या (प्राणोपनिषद्) का विषय है, चौथे से छटे तक ब्रह्मविद्या (ब्रह्मोपनिषद्) है, सातवां अध्याय शान्तिपाठ है। ये सात अध्याय दूसरे आरण्यक में हैं। और तीसरे आरण्यक में संहिता की उपनिषदें हैं। ऐतरेयोपनिषद् के नाम से अधिकतर प्रसिद्ध वही हिस्सा है, जो ब्रह्मविद्या सम्बन्धी है—अर्थात् दूसरा आरण्यक चौथे अध्याय से लेकर समाप्ति तक,

इसी पर स्वामि शंकराचार्य का भाष्य है। यही हिस्सा हम यहां उपनिषदों में देते हैं। इस से पहले हिस्से में जो प्राण-विद्या बतलाई है, उस में बहुत कुछ रहस्य वर्णन किये हैं, जिन के ज्ञान से बहुत नई बातें मालूम होती हैं। तथापि उन की व्याख्या हम आरण्यक में करेंगे। यहां केवल उतना ही भाग हम देते हैं, जो आरण्यक में से अलग करके उपनिषदों में रक्खा गया है और व्याख्यात किया गया है।

ऐतरेयारण्यक ऋग्वेद सम्बन्धी है, इसी लिए यह उपनिषद् ऋग्वेदीय है।

(१) आत्मा वा इदमेकएवाग्र आसीन्, नान्यत् किञ्चन मिषत्। (२) स ईक्षत 'लोकान्नु-सृजा' इति [१] स इमाँल्लोकानसृजत (३) अम्भो मरीचीर्मरमापः (४) अदोऽम्भःपरेण दिवं, द्यौः प्रतिष्ठा,ऽन्तरिक्षंमरीचयः, पृथिवी मरो,या अधस्तात् ता आपः (५) [२] सईक्षते मे नु लोका, लोकपालान्नुसृजा, इति। सोऽद्भ्यएव पुरुषं समुद्धृत्यामूर्छयत् (६) [३] तमभ्यतपत्, तस्याभितप्तस्य मुखं निरभिद्यत, यथाऽण्डम्; मुखाद्वाग्वाचोऽग्निर्, नासिकेनि-

रभिद्येतां नासिकाभ्यांप्राणः प्राणाद्वायुः, अक्षि-णीनिरभिद्येतामक्षीभ्यां चक्षुश्चक्षुषआदित्यः कर्णौनिरभिद्येतांकर्णाभ्यांश्रोत्रंश्रोत्राद् दिशः, त्वङ्निरभिद्यत, त्वचोलोमानि, लोमभ्यओष-धिवनस्पतयो, हृदयं निरभिद्यत, हृदयान्मनो, मनसश्चन्द्रमा, नाभिर्निरभिद्यत, नाभ्या अ-पानो, अपानान्मृत्युः, शिश्नं निरभिद्यत, शिश्नाद्रेतो रेतसआपः [४] ॥१॥ *

(१) आरम्भ में (सृष्टि से पहले) निःसंदेह यह आत्मा था केवल एक; और कुछ भी आंख झपकता हुआ * (जीवन्त जाग्रत) न था। (२) उसने सोचा 'मैं लोकों को रचूं'? उस ने इन लोकों को रचा (३) अम्भस् (जल) मरीचि (किरणें)

---

* अवान्तर विषय दिखाने के लिए हर एक खण्ड में १, २ आदि अंक दिये गए हैं, उन को हमने इस (बन्धनी) के अन्दर दिखलाया है। शंकराचार्य ने उपनिषद् में आरण्यक के अंकों से कुछ भेद किया है, वे अंक हमने इस [बन्धनी] के अन्दर दिखलाए हैं।

* मिषत्=आंख झपकता हुआ, यह शतृ प्रत्यय का प्रयोग है जैसे ऋग्वेद १०। १९०। २ में है 'विश्वस्य मिषतो वशी' सारे जीवन्त जगत् का मालिक।

मर (मरने वाला) अप (जल) (४)। वह अम्भस् (जल) है, जो द्यौ से परे (ऊपर) है, और जो उस का आश्रय (द्यौ) है, मरीचि (किरणें) अन्तरिक्ष है। मर (मरने वाला) पृथिवी हैं। पानी जो पृथिवी के नीचे है, वह अप (जल) हैं। (५) उसने देखा ' ये हैं लोक, अब मैं लोकपालों (इन लोकों के रखवालों) को रचूं , तब उसने जलों से ही निकाल कर पुरुष (विराट्) को बनाया † (६) उसने उसे तपाया,जब वह तप गया, तो उस का मुख खुला, जैसे अण्डा फटता है, मुख से बाणी निकली, बाणी से अग्नि ‡ । दोनों नासिकाएं खुलीं, नासिकाओं से प्राण § निकला, प्राण से वायु । दोनों आंखें (आंखों के छेद) खुलीं, आंखों से चक्षु (देखने का इन्द्रिय) निकला, चक्षु से सूर्य। कान खुले, कानों से श्रोत्र निकले श्रोत्र से दिशाएं, त्वचा खुली, त्वचा से लोम (स्पर्श का इन्द्रिय) निकले, लोमों से ओषधियें और वनस्पतियें । हृदय खुला, हृदय से मन निकला, मन से चन्द्रमा। नाभि खुली, नाभि से अपान निकला, अपान से मृत्यु। शिश्न (प्रजननेन्द्रिय) खुला, शिश्न से बीज निकला, बीज से जल ॥ १ ॥

---

† यहां जलों से अभिप्राय सूक्ष्म पाचों भूतों से है और पुरुष से अभिप्राय विराट् देह से है । अमूर्छयत् का अक्षरार्थ है मूर्ति बनाई अर्थात् सूक्ष्म तत्वों में से इस स्थूल विराट् देह को बनाया।

‡ यहां तीन वस्तुओं का वर्णन है, इन्द्रिय का अधिष्ठान: इन्द्रिय और देवता (इन्द्रिय का अधिष्ठाता) ।

§ प्राण अर्थात् घ्राणेन्द्रिय । सांस द्वारा घ्राण गन्ध को ग्रहण करता है, इस लिए घ्राण के स्थान प्राण लिखा है।

भाष्य—यह सारी सृष्टि पहले एकरूप थी, और इस में जीती जागती शक्ति केवल एक परम आत्मा था। उस के सिवाय यह सब उस समय सोया हुआ था, जो अब जागता है (आंख झपकता हुआ अर्थात् जाग्रत् है)। उस की इच्छा से यह उस एकरूप से इस भांति २ के रूप में आया, जो अब हमारे सामने है। अर्थात् चारों लोक और उनके पालक देवता इत्यादि। ये सब उस रूप को नाना रूप में बदलने से हुए।

यहां चार लोक ये बतलाये हैं। अम्भः, जिस का अर्थ पानी है, यहां इस से अभिप्राय द्यौ से ऊपर के लोक और द्यौ इन दोनों से है। मरीचि किरणों का नाम है, और यहां अन्त-रिक्ष से अभिप्राय है, क्योंकि अन्तरिक्ष सूर्य की किरणों से भरा हुआ है। मर का अर्थ है मरने वाला। यहां यह पृथिवी का नाम है, क्योंकि पृथिवी पर सब जन्तु मरने वाले हैं। अप् का अर्थ है पानी, यहां उन पानियों से अभिप्राय है जो पृथिवी के अन्दर वा इर्द गिर्द हैं।

लोकों का विभाग प्रायः तीन ही है। पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ। यहां एक चौथा लोक पृथिवी के अन्दर वा इर्द गिर्द के जलों को अलग माना है। लोक वह है, जहां परमात्मा की प्रजा वास करती है और भोग भोगती है। चाहे, वह प्रजा किसी उच्च अवस्था की है, वा छोटी अवस्था की। जलजन्तु जल में ही रहते हैं और जल ही में उन का भोग है, इस लिए जल उन का लोक (दुनिया) है। इस अभिप्राय से यहां जल को पृथिवी से एक अलग लोक माना है। पर यह लोक उन लोकों में से नहीं है, जो मनुष्य को अपने कर्म और ज्ञान से

जीतने चाहियें, क्योंकि इस में मनुष्य से निचली प्रजा वास करती है। उस के जीतने के तीन ही लोक हैं, जिन में से सब से निचला यह लोक (मनुष्यलोक, पृथिवी) है।

दूसरा खण्ड ।

(१) ता एता देवताः सृष्टा अस्मिन् महत्यर्णवे प्रापतं स्तमशनापिपासाभ्यामन्वार्जत (२) ता एनमब्रुवन्नायतनं नः प्रजानीहि, यस्मिन् प्रतिष्ठिता अन्नमदामेति [१]। ताभ्योगामानयत्। ता अब्रुवन्'नवै नोऽय मलमिति'ताभ्योऽश्वमानयत् । ता अब्रुवन् 'नवैनोऽयमलमिति' [२] ताभ्यः पुरुषमानयत्। ताअब्रुवन् 'सुकृतं बतेति' पुरुषो वाव सुकृतम् (३) ता अब्रवीद्, यथायतनं प्रविशतेति [३] (४) अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशद् वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशदादित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशद् ।दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्नोषधिवनस्पयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशंश्चन्द्रः

मामनो भूत्वा हृदयं प्राविशन् मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशदापोरेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन् [४] (५) तमशानापिपासे अब्रूतामावाभ्याभि प्रजानीहीति । ते अब्रवीदेतास्वेववांदेवतास्वाभाजाम्येतासु भागिन्यौ करोमीति । तस्माद् यस्यै कस्यै च देवतायै हविर्गृह्यते भागिन्यावेवास्यामशनापिपासे भवतः [५] ।२।

(१) * ये देवता (अग्नि आदि) रचे जाने के पीछे इस बड़े समुद्र † में गिरे। तब उस (आत्मा) ने उस (पुरुष, विराट्) को भूख और प्यास से युक्त किया (२) ‡ (भूख और प्यास से युक्त हुए) उन्हों ने (देवताओं ने) इसे (आत्मा को) कहा हमारे लिये कोई जगह की आज्ञा दो, जिस में

---

* विराट् देह और अग्नि आदि देवताओं की उत्पत्ति दिखला कर अब भोग के योग्य शरीरों की सृष्टि दिखलाने के लिये भूख और प्यास की सृष्टि बतला कर भूख और प्यास को अन्य परिणाम का कारण दिखलाते हैं—

† समुद्र की तरह अत्यन्त विस्तृत विराट् देह में, जहां से निकले थे, अथवा संसार में।

‡ अब छोटे देहों की सृष्टि बतलाते हैं।

हम ठहरें और अन्न खाएं * वह उन (देवताओं) के लिए एक बैल लाया । उन्होंने कहा यह हमारे लिये पर्याप्त (काफी) नहीं फिर वह उन के लिए एक घोड़ा लाया । उन्हों ने कहा 'यह हमारे लिए पर्याप्त नहीं' तब वह उनके लिये एक पुरुष लाया, तब उन्होंने कहा 'अहो बहुत अच्छा बना है' निःसन्देह पुरुष है जो बहुत अच्छा बना है (३) † उन (देवताओं) को उस (आत्मा) ने कहा 'अपनी २ जगह में प्रवेश कर जाओ' (४) तब अग्नि वाणी बन कर मुख में प्रविष्ट हुआ । वायु प्राण बन कर नासिकाओं में प्रविष्ट हुआ । सूर्य चक्षु बन कर आंखों में प्रविष्ट हुआ । दिशाएं श्रोत्र बन कर कानों में प्रविष्ट हुईं । ओषधियें और बनस्पतियें लोम बन कर त्वचा में प्रविष्ट हुईं । चन्द्रमा मन बन कर हृदय में प्रविष्ट हुआ । मृत्यु अपान बन कर नाभि में प्रविष्ट हुआ । जल वीर्य बन कर शिश्न (प्रजननेन्द्रिय) में प्रविष्ट हुए (५) ‡ तब भूख और प्यास ने उसे (आत्मा को) कहा 'हमारे लिये भी (कोई जगह की) आज्ञा दो उसने उनको कहा' तुम दोनों को मैं इन्हीं देवताओं (अग्नि) आदि में साथी बनाता हूं, इन्हीं में हिस्सेदार बानाता हूं' इस

---

* अन्न खाने से यहां अभिप्राय शब्द आदि विषयों के उपभोग से है, जो देवताओं के अधिष्ठातृत्व में इन्द्रियों से किया जाता है ।

† ईश्वर ने भोग के समर्थ जो शरीर रचे हैं, उन में ईश्वर की प्रेरणा से देवताओं का प्रवेश दिखलाते हैं ।

‡ भूख और प्यास का कोई नियत स्थान न दिखला कर सारे शरीर में उन का प्रवेश दिखलाते हैं ।

लिये जिस किसी देवता के लिये हवि ग्रहण की जाती है, भूख और प्यास इस में हिस्सेदार होते हैं ॥ २ ॥

भाष्य—इस सारे का तात्पर्य यह है, कि विराट् की रचना के पीछे फिर क्रमशः अपने २ समय पर उस सृष्टि की रचना हुई, जिस में चेतनता का प्रकाश है, और वह दर्जेवार उत्तम से उत्तम बनी है। बैल और घोड़ा ये दोनों इस विषय में उदाहरण हैं। गौ के ऊपर के दान्त नहीं होते, इस लिए वह ऐसे छोटे २ घास (जो जड़ों से कुछ ही ऊपर हैं) को नहीं उखाड़ सकती, जिस को घोड़ा आनन्द से चरता रहता है। ये दोनों उदाहरण के तौर पर दिखलाए हैं, वास्तव में यहां दर्जेवार सारी जीवन्त सृष्टि की उत्पत्ति समझनी चाहिये। इनसब में सब से उत्तम पद पुरुष का है। क्योंकि चेतनता में, और अधिक सुन्दररूप से शब्द आदि के उपभोग करने में, पुरुष के बराबर कोई दूसरा नहीं है। यह विषय इसी आरण्यक में पहले भी आचुका है "वह पुरुष जो आत्मा के अधिक प्रकाश को जानता है, उस का अपना प्रकाश बढ़ जाता है। ओषधियें बनस्पतियें और हरएक प्राणधारी, इन सब में आत्मा अधिक प्रकाश वाला है, क्योंकि ओषधि और वनस्पतियों में रस का सञ्चार दीखता है और प्राणधारियों में चित्त दीखता है। पर इन दोनों में से भी प्राणधारियोंमें आत्मा का अधिक प्रकाश है, क्योंकि उन में तो रस भी दीखता है (और चित्त भी), पर ओषधि बनस्पतियों में चित्त नहीं (केवल रस दीखता है)। पर पुरुष में आत्मा और भी अधिक प्रकाश वाला है, क्योंकि वह ज्ञान में बड़ा अमीर है, वह समझबूझ कर कहता है और समझबूझ कर देखता है, अपने

भविष्यात् को जानता है, लोक और परलोक को जानता है, और उस के पास जो विनश्वर (देह इन्द्रिय) है, उन के द्वारा अमृत को पाने की चेष्टा करता है । यह उसकी सम्पत्ति है । और दूसरे पशुओं को खाली भूख प्यास का ही ज्ञान है । न जान बूझ कर कहते हैं, न जान बूझकर देखते हैं । न भविष्यत् को जानते हैं । न लोक परलोक को जानते हैं । बस वह इतने ही हैं । ये सब जन्म अपनी २ वासना के अनुसार हुए हैं, (ऐत० आर० २ । ३ । २)" ।

अग्नि आदि देवता विराट् देह में ऐसे मार्जित (मंझे हुए) रूप में नहीं थे, और न उन के लिये भोग ही ऐसे उत्तम रूप में थे, जैसे कि वह प्राणधारियों में आकर हुए । और उन में भी सब से बढ़ कर मार्जितरूप में वह पुरुष में आकर हुए । सूर्य का मार्जितरूप नेत्र में प्रविष्ट हो कर देखने की शक्ति देता है, और बाह्य सूर्य उस को देखने में सहायता देता है । ये सूर्य आदि देवता अन्न खाने के लिये पुरुष देह में प्रविष्ट हुए हैं । और उनका अन्न भिन्न २ है । चक्षु का अन्न रूप है, क्योंकि वह रूप को देख कर तृप्त होता है । इसी प्रकार दूसरे इन्द्रियों के विषय में भी जानना चाहिये ।

तीसरा खण्ड ।

(१) स ईक्षतेमे नु लोकाश्च लोकपालाश्चान्नमेभ्यः सृजाइति [१] सोऽपोऽभ्यतपत्, ताभ्योऽभितप्ताभ्योमूर्तिरजायत । या वै सा

मूर्तिरजायतान्नं वै तत् [२] (२) तदेनत्सृष्टं पराङ्त्यजिघांसत्। तद्वाचाऽजिघृक्षत्, तन्नाशक्नोद् वाचा ग्रहीतुम्। सयद्धैनद्वाचाऽग्रहैष्यदभिव्याहृत्यैवान्न मत्रप्स्यत् [३] तत्प्राणेनाजिघृक्षत्, तन्नाशक्नोत प्राणेन ग्रहीतुं। स यद्धैनत् प्राणेनाग्रहैष्यदाभिप्राण्यहैवान्नमत्रप्स्यत् [४] तच्चक्षुषाऽजिघृक्षत्, तन्नाशक्नोच्चक्षुषा ग्रहीतुं। सयद्धैनच्चक्षुषाऽग्रहैष्यद्दृष्ट्वाहैवान्नमत्रप्स्यत् [५] तच्छ्रोत्रेणाजिघृक्षत्, तन्नाशक्नोच्छ्रोत्रेण ग्रहीतुं, सयद्धैनच्छ्रोत्रेणाऽग्रहैष्यच्छ्रुत्वाहैवान्नमत्रप्स्यत् [६] तत् त्वचाऽजिघृक्षत्, तन्नाशक्नोत् त्वचा ग्रहीतुं। स यद्धैनत्त्वचाऽग्रहैष्यत्, स्पृष्ट्वाहैवान्न मत्रप्स्यत् [७] तन्मनसाऽजिघृक्षत्, तन्नाशक्नोन्मनसा ग्रहीतुं, स यद्धैनन्मनसाऽग्रहैष्यद्, ध्यात्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् [८] तच्छिश्नेनाजिघृक्षत्, तन्नाशक्नोच्छिश्नेन ग्रहीतुं। स यद्धै-

नच्छिश्नेनाग्रहैष्यद् विसृज्यहैवान्न मत्रप्स्यत् [९] तदपानेनाजिघृक्षत्, तदा वयत् (३) सैषोऽन्न-ग्रहो, यद्वायुरन्नायुर्वा एष यद्वायुः [१०] (४) स ईक्षत, कथंन्विदं मदृतेस्यादिति (५) स ईक्षत् कतरेण प्रपद्या इति (६) स ईक्षत, यदि वाचा ऽभिव्याहृतं, यदि प्राणेनाभिप्राणितं, यदि चक्षुषा दृष्टं यदि श्रोत्रेण श्रुतं, यदि त्वचा स्पृष्टं, यदि मनसा ध्यातं यद्यपानेनाभ्यपानितं, यदि शिश्ने-नविसृष्टमथकोऽहमिति [११] (७) स एतमेव सीमानंविदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत (८) सैषा-विदृतिर्नामद्वास्तदेतन्नान्दनम् (९) तस्य त्रय आवसथास्त्रयः स्वप्ना अयमावसथोऽयमावसथो ऽयमावसथ इति [१२] (१०) सजातो भूतान्य-भिव्यैक्षत्, किमिहान्यं वावदिषदिति । स एत-मेव पुरुषं ब्रह्म ततममपश्यत् (११) इदमदर्श-मिती ३, [१३] तस्मादिदन्द्रो नामेदन्द्रो हवै

नाम, तमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेण, परोक्षप्रिया इव हि देवाः, परोक्षप्रिया इव हि देवाः [१४] । ३ ।

(१) * उसने सोचा ये हैं लोक और (लोक पाल) । अब इन के लिये अन्न रचूं' उसने जलों । (सूक्ष्मतत्वों) को तपाया । जब वे तपे, तो उन से मूर्ति † उत्पन्न हुई । और वह मूर्ति जो उत्पन्न हुई, वह अन्न है । (२) ‡ अब यह अन्न रचा

---

* भोग के साधन (इन्द्रिय) और भोग के अधिष्ठान (गौ घोड़ा, मनुष्य आदि के शरीर) की सृष्टि दिखला कर अब भोग्य सृष्टि दिखलाते हैं । यहां भोग्यसृष्टि को पीछे दिखलाने से यह तात्पर्य्य नहीं है कि भोक्ता जो थे, वह पहले रचे गए और भोग्य सृष्टि पीछे रची गई, किन्तु दोनों के अलग २ दिखलाने में तात्पर्य्य है । क्रम में तात्पर्य्य नहीं ।

† मूर्ति=भोग्य के योग्य आकार । ओषधियें और फल मनुष्य के लिये और चूहे आदि बिल्ली आदि के लिये ॥

‡ पहला जो भोक्तृवर्ग था उसने जिस साधन से अन्न को अपने जीवन की रक्षा का साधन बनाया, उस साधन का अन्वयव्यतिरेक द्वारा निश्चय करते हैं । आदि भोक्तृवर्ग ने जब अन्न को खाना चाहा, तो अन्न उस से भाग गया । यहां यद्यपि जंगम अन्न का भागना होसकता है, स्थावर का नहीं, तथापि भोक्तृवर्ग के शरीर के अन्दर वह प्रविष्ट नहीं हुआ, किन्तु बाहर ही ठहरा रहा इस में तात्पर्य है ॥

गया, तो इसने परे भाग जाने की चेष्टा की । उसने (अन्न खाने वाले ने) इस (अन्न) को वाणी से पकड़ना चाहा । वह इस को वाणी से नहीं पकड़ सका । यदि वह इसे वाणी से पकड़ लेता, तो (अब भी मनुष्य) अन्न का नाम लेकर ही तृप्त होजाता । फिर उसने प्राण (घ्राण) से उस को पकड़ना चाहा । वह इसे घ्राण से नहीं पकड़ सका । यदि वह इसे घ्राण से पकड़ लेता, तो मनुष्य अन्न को सूंघ कर ही तृप्त हो जाता । फिर उसने इसे आंखों से पकड़ना चाहा । वह इसको आंखों से नहीं पकड़ सका । यदि वह इस को आंखों से पकड़ लेता, तो देख कर ही अन्न को तृप्त हो जाता । फिर उसने इस को कानों से पकड़ना चाहा । वह इस को कानों से नहीं पकड़ सका । यदि वह इस को कानों से पकड़ लेता, तो सुन कर ही अन्न को तृप्त हो जाता । उसने इस को त्वचा से पकड़ना चाहा । वह इस को त्वचा से नहीं पकड़ सका । यदि वह इस को त्वचा से पकड़ लेता, तो छूकर ही अन्न को तृप्त हो जाता । उसने इस को मन से पकड़ना चाहा, वह इस को मन से नहीं पकड़ सका । यदि वह इस को मन से पकड़ लेता । तो अन्न का ध्यान करके ही तृप्त हो जाता । उसने इस को शिश्न (प्रजननेन्द्रिय) से पकड़ना चाहा । वह इस कोशिश्न से नहीं पकड़ सका । यदि इसे शिश्न से पकड़ लेता, तो अन्न को (बीज की नाईं) त्याग कर ही तृप्त होजाता । अब उसने इस को अपान से पकड़ना चाहा । उसने इसे पकड़ लिया । सो

'तदेनदभि सृष्टं नदत् पराङ् त्यजिघांसत्' इस पाठान्तर का यह अर्थ है, कि अन्न जब भोक्तृवर्ग के सामने छोड़ा गया तो उसने चीखते हुए परे भागने की चेष्टा की ॥

यह वायु* (पकड़ने वाला) है, जो अन्न का ग्रहण करने वाला है। और वायु (अपान) निःसन्देह अन्नायु है (अन्न के रस द्वारा आयु का हेतु है, अन्न से जीता है और जीवन देता है)

(४) † उसने सोचा ' कैसे यह सब (देह, इन्द्रिय आदि) मेरे विना हो सकता है ?

(५) और तब उसते सोचा ' किस मार्ग‡ से मैं इस में प्रवेश करूं ' ?

---

* जैसा कि वर्तमान में हम देखते हैं, कि वाणी शब्द का उच्चारण कर सकती है, परन्तु अन्न का नाम लेने मात्र से तृप्ति नहीं होती, और न वाणी में बोलने के सिवाय अन्न को खींचने का सामर्थ्य है। इस से यह अनुमान होता है कि आदि सृष्टि में भी अन्न को देख कर भोक्तृवर्ग के मुख से जो शब्द निकला, उससे उनकी तृप्ति नहीं हुई । इसी प्रकार दूसरे इन्द्रियों के विषय में जानना चाहिये, अन्ततः अपान से उसने अन्न को ग्रहण किया। यहां अपान से--अभिप्राय उस वायु से है, जो अन्न को मुख द्वारा निगलने में सहायता करता हुआ अन्तर्मुख वायु है और जो अन्त में अन्न के असार को निचले इन्द्रियों और रोमों द्वारा बाहर निकाल देता है ।

वायु, वी धातु से है। वी=ग्रहण करना, खाना—

† देह, इन्द्रिय और अन्न की सृष्टि दिखला कर आत्मा का प्रवेश दिखलाते हैं ।

‡ अन्दर प्रवेश करने के दो मार्ग हैं। एक पादाग्र, जिस से देह में प्राण प्रविष्ट हुआ है (देखो ऐत० आर० २।१।३.११) और दूसरा सिर में स्थित ब्रह्मरन्ध्र ॥

(६) और तब उसने सोचा 'यदि वाणी ने (बिना मेरे) बोल लिया, यदि प्राण ने सूंघ लिया, यदि नेत्र ने देख लिया, यदि श्रोत्र ने सुन लिया, यदि त्वचा ने छू लिया, यदि मन ने सोच लिया, यदि अपान ने निगल लिया, यदि प्रजननेन्द्रिय ने (उत्पत्ति का बीज) छोड़ दिया, तब मैं क्या हूं ?

(७) तब उसने इसी सीमा (हद्द, चोटी अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र) को फाड़ा (खोला), और वह इस द्वार से प्रविष्ट हुआ * ।

(८) यह द्वार विद्वति नाम है और यह नान्दन (आनन्दकी जगह) है †

(९) उस के (ब्रह्मरन्ध्र द्वारा प्रविष्ट हुए आत्मा के) रहने की जगह तीन हैं, तीन स्वप्न हैं: (एक) यह (आंख) रहने की जगह है, (दूसरी) यह (कण्ठ) रहने की जगह है,

---

* आत्मा ब्रह्मरन्ध्र से प्रविष्ट हुआ है इस लिये मूर्धा में ज्ञानेन्द्रियों की अधिकता है और प्राण पाद से प्रविष्ट हुआ है इस लिये कण्ठ से अधोभाग में कर्मेन्द्रियों की अधिकता है (सायण) । यहां शंकरभाष्य के अनुसार 'द्वारा इमं लोकं प्रापद्यत' ऐसा पाठ प्रतीत होता है ॥

† आत्मा ने अपने प्रवेश के लिये इस द्वार को स्वयं प्रीतिपूर्वक फाड़ा है, इस लिये इस का नाम विद्वति है । और इस द्वार से निकल कर आत्मा ब्रह्मलोक को प्राप्त होकर मुक्त हो जाता है, इस तरह पर यह द्वार आनन्द का हेतु होने से नान्दन है ॥

(तीसरी) यह (हृदय) रहने को जगह है * ।

(१०) जब वह जन्मा, तो उसने सब भूतों (जन्तुओं) पर दृष्टि डाली, कि क्या वह यहां किसी दूसरे का ढंढोरा दे सकता है† ? उसने केवल इसी पुरुष को देखा, जो बहुत बड़ा

---

* यहां तीन स्थान यह हैं—दाईं आंख, जाग्रत का स्थान। कण्ठ, स्वप्न का स्थान, और हृदय, सुषुप्ति का स्थान। ये तीनों, स्वप्न इस लिये हैं, कि स्वप्न की नाईं आत्मा इन तीनों में अपने स्वरूप को भूला हुआ होता है। तुरीय में वह अपने स्वरूप को जानता है ॥

स्वामी शंकराचार्य ने तीन स्थान, दाईं आंख, मन और हृदयाकाश लिये हैं, इस पर आनन्दगिरि ने मन से अभिप्राय मनका अधिकरण कण्ठ ही लिया है। दूसरा अर्थ शंकराचार्य ने तीन स्थानों से अभिप्राय पितृशरीर, मातृशरीर और स्वशरीर लिया है (जैसा इसी उपनिषद् में अगले अध्याय में कहेंगे)। अर्थात् आत्मा के प्रतिदिन के व्यवहार जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति आंख, कण्ठ और हृदय में होते हैं। और जन्मान्तर का ग्रहण पिता आदि के द्वारा होता है ॥

'†किमिहान्यं वावदिषत्' शंकराचार्य ने इस पाठ की व्याख्या नहीं की। इस पर आनन्दगिरि लिखता है, कि यह वचन स्पष्ट है, इस लिये व्याख्या नहीं की। अथवा लिखने वालों के प्रमाद से छूटगई है। आनन्दगिरि इस का यह अर्थ करता है, उसने भूतों को ही अपना आप जाना, तब वह इस शरीर में अलग आत्मा को कैसे कहता, किन्तु अलग आत्मा को नहीं कहा न जाना। इस के पीछे वह फिर दूसरा अर्थ

फैला हुआ ब्रह्म है (११) (उसने कहा) 'यह मैंने देख लिया' इसलिये उसका नाम इदन्द्र (इसका देखने वाला) हुआ। इदन्द्र यह नाम है। यह जो (नाम से) इदन्द्र है, उस को परोक्ष करके (छुपा कर, गुह्य नाम से) इन्द्र कहते हैं । क्योंकि देवता परोक्ष को प्यार करने वाले हैं, हां परोक्ष को प्यार करने वाले हैं॥

दूसरा अध्याय--पहला खण्ड

(१) अपक्रामन्तु गर्भिण्यः (२) पुरुषे हवा अयमादितो गर्भो भवति यदेतद्रेतः [१] (३) तदेतत् सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः संभूतमात्मन्येवा-

---

लेता है कि उसने शरीर में प्रविष्ट होकर इन सब भूतों पर दृष्टि डाली कि क्या इनमें स्वतः सत्ता है वा नहीं, यह विचारा। और विचार कर यह निश्चय किया, कि आत्मा से भिन्न स्वतः सत्ता वाला मैं किस को कहूं अर्थात् आत्मा से भिन्न मैं कुछ नहीं कह सकता, यह निश्चय किया । पर यहां पहला अर्थ तब ठीक हो सकता है जो 'वावदिषत्' के आगे जो इति शब्द है वह 'किम्' से पहले हो, और दूसरा अर्थ तब ठीक हो सकता है, जो 'अन्यं' की जगह 'अन्यत्' पाठ हो। सायण ने 'वाव-दिषत्' का अर्थ 'वदिष्यामि' लिया है । इस में पूर्व कर्त्ता का सम्बन्ध नहीं रहता । सो वावदिषत्-यङलुगन्त लेट् का प्रयोग है॥

त्मानं बिभर्ति । तद्यदा स्त्रियांसिञ्चत्यथैनज्जनयति। तदस्य प्रथमं जन्म। [२] (४) तत् स्त्रिया आत्मभूयं गच्छति यथास्वमङ्गं तथा, तस्मादेनां न हिनस्ति (५)साऽस्यैतमात्मानमत्रगतं भावयति [३] सा भावयित्री भावयितव्या भवति (६) तं स्त्री गर्भं बिभर्ति सोऽग्र एव कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयति [४] (७) स यत्कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयत्यात्मानमेवैतद्भावयति (८) एषां लोकानां सन्तत्या एवं सन्तता हीमे लोकाः (९) तदस्य द्वितीयं जन्म [५] (१०) सोस्यायमात्मा पुण्येभ्यः कर्मभ्यः प्रतिधीयते [६] (११) अथास्यायमितर आत्मा कृतकृत्यो वयोगतः प्रैति (१२) स इतः प्रयन्नेव पुनर्जायते तदस्य तृतीयं जन्म [७] (१३) तदुक्तमृषिणा (१४) गर्भे नु

सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा। शतं मा पुर आयसीररक्षन्नधःश्येनो जवसा निरदीयमिति। (१५) गर्भ एवैतच्छयानो वामदेव एवमुवाच [८] स एवंविद्वानस्माच्छरीरभेदादूर्ध्वउत्क्रम्यामुष्मिन्स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप्त्वाऽमृतः समभवत् समभवत् ॥४ ॥

(१) † गर्भिणी (स्त्रियें) चली जाएं (२) ‡ निःसंदेह, पुरुष में यह (आत्मा) पहले गर्भ (के तौर पर) होता है, जो यह वीर्य (कहलाता) है (३) यह (वीर्य) जो (मनुष्य के शरीर के) सारे अंगों से तेज इकट्ठा हुआ हुआ है,

---

* यद्यपि दूसरे अध्याय का यह पहिला खण्ड है, पर उपनिषद् के आरम्भ से यह चौथा खण्ड है। इस लिये यहां चौथा अंक दिया है । इस रीति पर उपनिषद् के सारे छः खण्ड मिला कर आत्मषट्क कहा जाता है ॥

† आरण्यक के इस अध्याय का उपदेश देते समय गर्भिणी स्त्रियों को वहां से अलग कर देना चाहिये, यह बात 'अपक्रामन्तु गर्भिण्यः' इस वाक्य से बोधन की है। यह वाक्य कई पुस्तकों में शीर्षक के तौर पर दिया गया है ॥

‡ पहले अध्याय में मानुषी सृष्टि दिखलाई है, अब दूसरे अध्याय में दिखलाएंगे, कि मनुष्य जन्म जन्मान्तरों में

इस आत्मा * को वह (पुरुष) अपने शरीर में (गर्भ के तौर पर) धारण करता है । उस (वीर्य) को जब वह (पुरुष) स्त्री में डालता है, तब वह (पिता) इस (अपने गर्भ भूत) को जन्म देता है । यह (पुरुष के अन्दर से निकलना) इस (वीर्य में स्थित जीव) का पहला जन्म (कहलाता) है ॥

(४) (अब स्त्री में प्रविष्ट हुआ) वह (वीर्य) स्त्री का आत्मा (अपना आप, अपना शरीर) बन जाता है, जैसे उस का अपना अंग । इस लिये वह इसे पीड़ा नहीं देता (५) वह (स्त्री) इस (पति) के इस आत्मा (पुत्र) को अपने अन्दर पोषण करती है । वह जो पोषण करने वाली है, उसका पोषण किया जाना चाहिये (६) स्त्री उस गर्भ को धारण करती है, और वह (पिता) बच्चे को जन्म से पहले भी और पीछे भी बढ़ाता है † (७) वह जो बच्चे को जन्म से पहले भी और पीछे भी बढ़ाता है, वह वास्तव में आत्मा (अपने आप) को

घूमता घूमता अन्ततः सारे बन्धनों को तोड़ कर अमृत हो जाता है और प्रसंग से यह भी दिखलाएंगे, कि पिता का पुत्र की ओर क्या कर्तव्य है अथवा यह कि मनुष्य किस तरह उत्तम बन सकता या बनाया जा सकता है ॥

* पुत्र मनुष्य का अपना आत्मा है और पत्नी भी अपना आत्मा है । देखो॰ ऐत॰ आर॰ २ । ३ । ७ ॥

† पहले अपने शरीर में रक्षा करने से, और फिर गर्भ की अवस्था में उस की माता का पोषण करने से, और बच्चे का भरण पोषण करने से और जन्म से पहले और पीछे के जो

ही बढ़ाता है (८) इन लोकों (मनुष्यों) के प्रवृत्त (जारी) रखने के लिये । क्योंकि इस प्रकार यह लोक जारी रहे हैं (नहीं तो टूट जाते) (९) यह (माता के शरीर से बाहर आना) इस का दूसरा जन्म है (१०) ॥

अब इस (पिता) का यह आत्मा (पुत्ररूप आत्मा) पुण्य कर्मों (के पूरा करने) के लिये इस की जगह खड़ा हो जाता है (११) इस का यह दूसरा आत्मा (पिता), जो अपना कर्तव्य पूरा कर चुका है, और अपनी आयु (के पूरे परिमाण) को पहुंच गया है, चल देता है (१२) वह यहां से चलते ही फिर जन्म लेता है । यह इस का तीसरा जन्म है † ॥

सो ऋषि ने कहा 'गर्भ में होते हुए ही मैंने इन देवताओं के जन्मों का पता लगा लिया है । सौ लोहे के पुरों (किलों) ने मुझे (बंद) रक्खा, पर मैं ऐसे वेग से निकल आया हूं, जैसे बाज (निकलता है ‡) (१५) गर्भ में ही लेटे

संस्कार हैं, उन के पूरा करने से, पिता सर्वदा पुत्र को बढ़ाता है-जन्म से पहले भी और पीछे भी ॥

† यहां पहले दो जन्म पुत्र के दिखलाए हैं । और अब यह तीसरा पिता का दिखलाया है । इस लिए कि जन्मता पुत्र है और मरता पिता है । इसी तरह पुत्र भी अपनी बारी में पिता बन कर तीसरा जन्म लेता है । और पिता भी अपने समय में पहले दो जन्म ले चुका है ॥

‡ ऋग्० ४ । २७।१ आशय यह है कि गर्भ में होते हुए अर्थात बार २ जन्म ग्रहण करते हुए ही मैंने असली तत्त्व को

हुए वामदेव ने यह इस प्रकार कहा। और वह इस प्रकार जानता हुआ, शरीर छोड़ने के पीछे ऊपर चढ़कर, और उस स्वर्ग लोक में समस्त कामनाओं को प्राप्त हो कर, अमृत हो गया, हां (अमृत) हो गया* ॥ ४ ॥

भाष्य—आत्मा सब से पहले पिता के शरीर में प्रवेश करता है। यहां वह बीज में वास करता है। यह बीज उस के आने वाले जीवन का बीज है इस लिये पिता का कर्तव्य है, कि वह इस बीज को पुष्ट करे, क्योंकि यह उस का दूसरा आत्मा है, जिस को उसने पुण्य कर्मों के लिये अपना प्रतिनिधि छोड़ना है। जो वासना पिता के अन्दर हैं वही उस की सन्तान में जाएंगी, क्योंकि बीज वृक्ष के सदृश होना है। तुम यदि स्वयं उच्च बनोगे, तो लोक में एक उच्चता का सिलसिला छोड़ जाओगे। और यही तुम्हारा काम होना चाहिये, दूसरा नहीं ॥

फिर जब इस अपने आत्मा को तुम अपने दूसरे आधे अंग (पत्नी) के पास सौंप देते हो, तब वह इस को नौ दस

पा लिया है। जैसे कोई लोहे के किलों में बन्द किया जाय, इस तरह मुझे अनेक शरीरों ने बन्द रक्खा। पर अब मैं इन बन्धनों को तोड़ कर निकल आया हूं ॥

* यद्यपि यह दूसरे अध्याय का पहिला खण्ड है, परन्तु आरम्भ से चौथा खण्ड है। इसी तरह ये चारों अध्याय के छः खण्ड आत्मषट्क कहलाते हैं, इस आशय से यहां अन्त में ४ का अंक दिया है ॥

महीने अपनी कुक्षि में धारण रखती है। अब यह तुम्हारा दूसरा कर्तव्य है, कि तुम अपनी पत्नी की पूरी २ रक्षा करो। अब तुम्हारी सन्तान जो तुम्हारी आत्मा है, तुम्हारी पत्नी की आत्मा के साथ एक होरही है। तुम अपनी पत्नी को उच्च संस्कारों से संस्कृत करोगे, तो तुम्हारी सन्तान उच्च संस्कारों को लेकर आएगी। इसी तरह जन्म के पीछे भी तुम्हारा यही काम है, कि उस को ऐसा पुरुष बनाओ, जिसको तुम पुण्य-कर्मों के लिये अपना प्रतिनिधि छोड़ जाओगे। ऐसा करने से तुम अपने कर्तव्य का पालन करके जाओगे। और जैसे तुम यहाँ एक पुण्य का सिलसिला स्थापन कर जाओगे, वैसे ही तुम्हारी अपने आगामि जन्मों की लड़ी पुण्यमयी होजाएगी। जिसका अन्तिम फल यह है, जो इस अध्याय की समाप्ति में दिखलाया है॥

मनुष्य के जब यह तीन जन्म—पिता के शरीर से माता के शरीर में आना, और माता के शरीर से लोक में आना, और इस लोक से दूसरे जन्म में जाना, सुधर जाते हैं, तो वह अपने परम उद्देश्य को पूरा कर लेता है।

तीसरा अध्याय—पहला खण्ड॥

(१) ओं यथास्थानं तु गर्भिण्यः (२) कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे, कतरः स आत्मा (३) येन वा पश्यति, येन वा शृणोति, येन वा गन्धानाजिघ्रति, येन वा वाचं व्याकरोति,

येन वा स्वादु चास्वादु च विजानाति [१] यदेतद्धृदयं मनश्चैतत्, संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधा दृष्टिर्धृतिर्मतिर्मनीषा जूतिःस्मृतिः संकल्पः क्रतुरसुः कामो वश इति (४) सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति [२] (५) एष ब्रह्मैष इन्द्र एष प्रजापतिरेते सर्वे देवा इमानि च पञ्चमहाभूतानि पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतींषीत्येतानीमानि च क्षुद्रामिश्राणीव बीजानीतराणि चेतराणि चाण्डजानि जारुजानि च स्वेदजानि चोद्भिज्जानि चाश्वा गावः पुरुषा हस्तिनो यत्किञ्चेदं प्राणि जङ्गमं च पतत्रि च यच्च स्थावरं सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रम् (६) प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा (७) प्रज्ञानं ब्रह्म [३] (८) स एतेन प्रज्ञेनात्मनाऽस्माल्लोकादुत्क्रम्यामुष्मिन्स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप्त्वाऽमृतः समभवत् समभवत् । ५ ।

(१) * गर्भिणी (स्त्रियें) अपने २ स्थान पर वापिस चली जाएं । (२) यह कौन† है जिस को हम आत्मा के नाम से उपासते हैं, कौनसा ‡ वह आत्मा है ? (३) क्या जिस से (मनुष्य रूप को) देखता है, वा जिससे (शब्द) सुनता है, वा जिससे गन्धों को सूंघता है, वा जिससे (साधु, असाधु) वाणी को अलग २ करता है, वा जिससे स्वादु और अस्वादु को जानता है ? क्या यह जो हृदय है, और यह मन है ! संज्ञान—[चेतनता, सारे शरीर में फैला हुआ ज्ञान, जिस से मनुष्य चेतन कहा जाता है] आज्ञान [मालिक होना, शरीर और इन्द्रियों पर शासन करने की शक्ति] विज्ञान [समझ]

---

* दूसरे अध्याय के प्रवचन में जो गर्भवती स्त्रियां अलग करदी गई थीं, उनको अब अपने २ स्थान में बैठने की आज्ञा दीगई है ॥

† शंकराचार्य्य ने "कोऽयम्" यह पाठ पढ़ा है, और सायण ने 'को,यम्' यह पढ़ा है । यद्यपि पहले पाठ में 'यम्' के अध्याहार की आवश्यकता रहती है, तथापि आरम्भ में केवल 'कः' इस अकेले शब्द से प्रश्न उठाने की शैली नहीं है, इस लिये 'कोऽयम्' ही समुचित प्रतीत होता है ॥

‡ इस शरीर में एक पाओं के अग्र से प्रविष्ट हुआ है और दूसरा मूर्धा से, इन दोनों में से आत्मा कौनसा है (शंकराचार्य), सोपाधिक और निरुपाधिक इन दोनों में से आत्मा कौनसा है (सायण) ॥

संज्ञान (प्रतिभा, स्फूर्ति, फुरना) मेधा (धारना, दानाई) देखना (इन्द्रियों द्वारा जानना) थामना (जो वृत्ति शरीर को थामे रखती है) मति (ख्याल करना) मनीषा (विचारना) जूति (वेग, प्रयत्न, व्यापार) संकल्प, क्रतु (इरादा) असु (सांस लेना) काम (कामना) और वश (भोग की इच्छा) * ॥

(४) ये सारे ही प्रज्ञान (शुद्ध चैतन्य) के नाम होते हैं † ॥

(५) यह ब्रह्मा (हिरण्यगर्भ) है, यह इन्द्र है, यह प्रजापति (विराट्) है। ये सारे देवता है, पांच महाभूत-पृथिवी, वायु, आकाश, जल, और तेज, ये छोटे और मिले जुले से ‡ जो बीज (Germs) हैं, तथा और और जो अण्डज (अंडे से उत्पन्न होने वाले पक्षी आदि) जरायुज (जेरज, जेर से उत्पन्न होने वाले मनुष्य आदि) स्वेदज (गर्मी से उत्पन्न होने वाले, जूं आदि) और उद्भिज्ज (पृथिवी को फोड़ कर उत्पन्न होने वाले

---

* देखना, सुनना इत्यादि, ये सारी शक्तियें, इस स्थूल देह के चमत्कार हों, यह ठीक नहीं जचता, इस लिये ये प्रश्न किये गए हैं कि जिस से हम देखते हैं क्या वह आत्मा है इत्यादि, यह सारा परिच्छेद प्रश्न वाक्य है ॥

† संज्ञान इत्यादि धर्म केवल जड़ अन्तःकरण के नहीं हो सकते, और न ही देखना आदि धर्म केवल जड़ इन्द्रियों के हो सकते हैं। इस लिये यह धर्म अपने नीचे एक ऐसा अधिष्ठान बतलाते हैं, जो प्रकाश स्वरूप चैतन्य है, और वह प्रकाश इन सारे धर्मों के साथ चमक रहा है, इस लिये ये सारे उसी के कर्म नाम हैं ॥

‡ छोटों से मिले हुए=सांप आदि (शंकराचार्य)॥

वृक्ष आदि) * घोड़े, गौएं पुरुष, हाथी और जो कुछ यह सांस लेने वाला है, (पाओं से) चलने वाला है, उड़ने वाला है, और जो स्थावर है, यह सब प्रज्ञान के नेत्र वाला है (प्रज्ञान से यह सत्ता दिया जाता है, और प्रज्ञान से ही अपने २ काम में लगाया जाता है) (६) यह प्रज्ञान पर ठहरा हुआ है (इस की बुनियाद प्रज्ञान है), सारा लोक (दुनिया) प्रज्ञान के नेत्र वाला है, प्रज्ञान पर ठहरा है (७) प्रज्ञान ब्रह्म है † ॥

वह (वामदेव) प्रज्ञ (जानने वाले) आत्मा के द्वारा इस लोक से ऊपर चढ़ कर उस स्वर्ग में सारी कामनाओं को पाकर अमृत हो गया, हां वह अमृत हो गया ॥५॥

भाष्य—इस अध्याय में आत्मा का स्वरूप क्या है, इस बात का विचार आरम्भ करके यह दिखलाया गया है, कि वह प्रज्ञान स्वरूप है । और यह प्रज्ञान ही है, जो जन्तुमात्र का आश्रय है, और भिन्न २ स्थानों से अपने भिन्न २ चमत्कार दिखला रहा है । और इन्हीं सब बाह्य चमत्कारों के हेतु से उस के भिन्न २ नाम बन जाते हैं, उस के अपने स्वरूप में कोई भेद नहीं । वह एक है और सारी दुनिया का सहारा है, उस को जान कर पुरुष अपनी सारी कामनाओं को पालेता है और अमृत हो जाता है ॥

---

* मिलाओ छान्दो० उप० ६।३।१ । वहां स्वेदज अलग नहीं माने गए ॥

† यहां 'प्रज्ञानं ब्रह्म' यह वह वाक्य है जो वेदान्त के चार प्रसिद्ध महावाक्यों में से एक है, जिस को ऋग्वेदीय महावाक्य के रूप में प्रमाण दिया गया है ॥

सातवां अध्याय *-पहला खण्ड।

ओम्, वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता, मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविराविर्म एधि वेदस्य म आणी स्थः श्रुतं मे मा प्रहासीरनेनाधीतेनाहो-रात्रान् संदधाम्यृतं वदिष्यामि सत्यं वदिष्या-मि तन्मामवतु तद्वक्तारमवत्ववतु मामवतु वक्ता-रमवतु वक्तारम् ॥

ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥ ६ ॥

मेरी वाणी मन में ठहरे और मेरा मन वाणी में ठहरे [दोनों एक दूसरे पर सहारा रक्खें] [हे परमात्मन्! तू] मेरे लिये प्रकट हो। तुम दोनों [हे वाणी और मन] मेरे वेद के [पहिये को पकड़ने वाले] दो कील हो। जो कुछ मैंने सीखा है वह मत भूले, मैं इस अपने सीखे हुए के साथ दिन रात युक्त होता हूं [दिन रात इस तरह दुहराउंगा कि कभी न भूले] मैं ऋत कहूंगा। सत्य कहूंगा। वह [ब्रह्म] मेरी रक्षा करे। वह वक्ता [आचार्य] की रक्षा करे। रक्षा करे मेरी। रक्षा करे वक्ता की रक्षा करे वक्ता की ॥

ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥ ६ ॥

---

* यह सातवां अध्याय शान्तिपाठ का है। इस पर

शान्तिपाठ समेत इस उपनिषद् के छः खण्ड हैं, इन छः को आत्मषट्क कहते हैं ॥

इस उपनिषद् में प्रकट किया है, कि एक ही प्रज्ञान [चैतन्य] सर्वत्र परिपूर्ण हो रहा है, जो भिन्न २ स्थानों से भिन्न तौर पर प्रकाशता है, वही ब्रह्म है, वही आत्मा है। वही मनुष्य के मूर्धा में प्रविष्ट हो कर इस सारे दृश्य को देखता है। इस से अद्वैत सिद्धान्त को पुष्टि मिलती हुई प्रतीत होती है। हमारा अपना सिद्धान्त द्वैत है। और इसको हम बृहदारण्यक १।४।१०। की व्याख्या में, और उस की भूमिका में, तथा अन्यत्र भी, कई जगह दिखला चुके हैं, पर द्वैतसिद्धान्त में इस की संगति किस प्रकार हो सकती है, यह पूरा हल किये बिना हम कुछ नहीं कह सकते। हां यह कह देना आवश्यक है, कि उपनिषदों में अमर जीवन लाभ करने के जो साधन बतलाए हैं, उन में कोई भेद नहीं है, चाहे द्वैत मानो या अद्वैत। जब तक उनको अपने जीवन में न घटाओगे, कुछ नहीं बनेगा। न द्वैत निस्तारा करेगा न अद्वैत। जो केवल इसी बात पर झगड़ते रहते हैं, और अपने जीवन की सुध नहीं लेते। वह अपने जन्म को व्यर्थ खोरहे हैं। वह कभी औपनिषद् पुरुष के दर्शन नहीं करेंगे। औपनिषद पुरुष औपनिषद् जीवन से मिलते हैं। और औपनिषद जीवन बड़े उदारभावों का जीवन है, वह ईश्वरप्रेम की परा काष्ठा का जीवन है। यह मार्ग कठिन है।

स्वामी शंकराचार्य ने भाष्य नहीं किया। सायणाचार्य ने ऐतरेयारण्यक में इस का भाष्य किया है॥

यहां कोई विरला ही पाओं रखता है 'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गम्पथस्तत्कवयो वदन्ति' जे तैनूं प्रेम खेलन दा चाव। सिर धर तली गली मोरी आव'। देखो यही उपनिषद् जिस शिष्य को एक पहुंचे हुए आचार्य से उपदेश दी गई है, उस ने ईश्वरप्रेम में रत होकर कैसे नम्रभाव से कैसी मधुमयी प्रार्थना की है। यह ईश्वर के प्रेम में रता हुआ मधुमय जीवन उपनिषद् से लाभ करना है। हां केवल यही लाभ करना है। इस के आगे जो कुछ है, वह अपने आप प्रकाशेगा। तुम्हारी चिन्तना की अपेक्षा नहीं॥

अस्तु, यहां हम ने उपनिषद् का अर्थ बिना किसी फेर फार के साफ २ कहने में अपना कर्तव्य पूरा किया है॥

(समाप्तोऽयंग्रन्थः)